

CHAPTER सत्ताईस

राजा पुरञ्जन की नगरी पर चण्डवेग का धावा और कालकन्या का चरित्र

नारद उवाच

इत्थं पुरञ्जनं स्यग्वशमानीय विभ्रमैः ।

पुरञ्जनी महाराज रेमे रमयती पतिम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार; पुरञ्जनम्—राजा पुरञ्जन को; स्यक्—पूर्णतया; वशमानीय—अपने वश में करके; विभ्रमैः—अपने आकर्षण से; पुरञ्जनी—राजा पुरञ्जन की पत्नी ने; महा-राज—हे राजा; रेमे—भोग किया; रमयती—समस्त तुष्टि प्रदान करती; पतिम्—अपने पति को।

महर्षि नारद ने आगे कहा : हे राजन्, अनेक प्रकार से अपने पति को मोहित करके अपने वश में करती हुई राजा पुरञ्जन की पत्नी उसे सारा आनन्द प्रदान करने लगी और उसके साथ विषयी जीवन व्यतीत करने लगी।

तात्पर्य : वन में आखेट करने के पश्चात् राजा पुरञ्जन घर लौटा और स्नान करने तथा अच्छा भोजन कर लेने के बाद उसने अपनी पत्नी को ढूँढा। जब उसने देखा कि वह बिना बिस्तर के भूमि में लेटी है और कोई उपयुक्त वस्त्र धारण नहीं किये हैं, तो वह अत्यन्त दुखी हुआ। तब वह उसके प्रति आकृष्ट हुआ और फिर उसके साथ में रहकर भोग करने लगा। इसी प्रकार से संसारी जीव पापकर्मों में प्रवृत्त रहता है। उसके ये पापकर्म पुरञ्जन द्वारा किये गये आखेट के समान हैं।

पापमय जीवन का निराकरण कई धार्मिक विधियों से किया जा सकता है—यथा यज्ञ, व्रत तथा दान। इस प्रकार मनुष्य अपने पापकर्मों के फल से मुक्त होकर अपनी मूल कृष्णचेतना को भी जगा सकता है। घर आकर, स्नान करके, भोजन कर लेने, तरोताजा होने तथा अपनी स्त्री की खोज करने पर पुरञ्जन को अपने पारिवारिक जीवन का चेत हुआ। दूसरे शब्दों में, वेदों में आदिष्ट निर्दिष्ट गृहस्थ जीवन पापमय अनुत्तरदायित्वपूर्ण जीवन से अच्छा है। यदि कृष्णचेतना में स्त्री तथा पुरुष मिल जाँय और शान्तिपूर्वक रहें तो अत्युत्तम है। किन्तु यदि पति अपनी पत्नी के प्रति अधिक आसक्त रहकर अपने जीवन-कार्यों को भूल जाता है, तो, भौतिक जीवन की उलझनें फिर शुरू हो जाएँगी। इसीलिए श्रील रूप गोस्वामी ने संस्तुति की है—*अनासक्तस्य विषयान् (भक्तिरमामृत सिन्धु १.२.२५५)*। पति तथा पत्नी विषयवासना से रहित होकर आध्यात्मिक जीवन की उन्नति के लिए एकसाथ रह सकते हैं। पति

को भक्ति करनी चाहिए और पत्नी को वैदिक आदेशों के अनुसार धार्मिक तथा श्रद्धावान् होना चाहिए। ऐसा संयोग उत्तम होता है। किन्तु यदि पति विषयभोग के कारण पत्नी के प्रति अधिक आसक्त होता है, तो स्थिति गम्भीर हो जाती है। स्त्रियाँ सामान्यतः अधिक कामुक होती हैं। कहा जाता है कि स्त्री की कामवासना पुरुष की अपेक्षा नौगुनी प्रबल होती है। अतः पुरुष का यह कर्तव्य है कि वह स्त्री को सुन्दर आभूषण, भोजन तथा वस्त्र प्रदान करके तथा उसे धार्मिक कृत्यों की ओर उन्मुख करके अपने वश में रखे। निस्सन्देह स्त्री के सन्तान भी होनी चाहिए। इससे वह पुरुष के लिए बाधा न बनेगी। दुर्भाग्यवश यदि मनुष्य स्त्री के प्रति केवल कामवासना से आकृष्ट होता है, तो गृहस्थ जीवन घृणित बन जाता है।

महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य पंडित ने कहा है— *भार्या रूपवती शत्रुः*—सुन्दर पत्नी शत्रु होती है। निस्सन्देह, प्रत्येक स्त्री अपने पति की दृष्टि में रूपवती है। भले ही अन्यो की दृष्टि में वह अत्यन्त सुन्दरी न प्रतीत हो, किन्तु पति के लिए तो वह अत्यन्त सुन्दरी होती है क्योंकि वह उससे बहुत अधिक आकृष्ट होता है। यदि पति की दृष्टि में पत्नी अत्यन्त सुन्दरी है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि पति उस पर अत्यधिक मोहित है। यह आकर्षण काम का आकर्षण है। सारा संसार दो प्रकार के गुणों—रजोगुण तथा तमोगुण—से मोहित है। सामान्यतः स्त्रियाँ अधिक रजोगुणी और मन्द बुद्धि होती हैं, अतः मनुष्य को उनके रजो तथा तमो गुणों के वश में नहीं होना चाहिए। भक्तियोग करने से मनुष्य सतोगुण पद को प्राप्त हो सकता है। यदि सतोगुण में स्थित पति रजो तथा तमोगुणी पत्नी को अपने वश में रखता है, तो स्त्री को लाभ पहुँचता है। वह रजो तथा तमो गुणों को भूलकर अपने पति की आज्ञाकारिणी बन जाती है, जो कि सतोगुण में स्थित होता है। ऐसा जीवन अभिनन्दनीय है। तब स्त्री तथा पुरुष दोनों की बुद्धियाँ मिलकर अच्छी तरह कार्य करने लगती हैं और वे आत्म-साक्षात्कार की दिशा में प्रगति कर सकते हैं; अन्यथा पति अपनी पत्नी के वश में रहकर अपने सतोगुण को खोकर रजोगुण तथा तमोगुण के अधीन हो जाता है। इस प्रकार सारी स्थिति दूषित हो जाती है।

निष्कर्ष यह निकला कि गृहस्थ-जीवन अनुत्तरदायित्वपूर्ण पापमय जीवन से श्रेयस्कर होता है, किन्तु यदि पति अपनी पत्नी के अधीन हो जाता है, तो पुनः भौतिक जीवन का बन्धन प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य का भौतिक बन्धन बढ़ता जाता है। इसीलिए वैदिक प्रणाली के अनुसार कुछ वर्ष

के बाद मनुष्य के लिए गृहस्थ-जीवन छोड़कर वानप्रस्थ तथा संन्यास की संस्तुति की जाती है।

स राजा महिषीं राजन्सुस्नातां रुचिराननाम् ।
कृतस्वस्त्ययनां तृप्तामभ्यनन्ददुपागताम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—उस; राजा—राजा ने; महिषीम्—रानी को; राजन्—हे राजा; सु-स्नाताम्—अच्छी तरह नहाई हुई; रुचिर-आननाम्—आकर्षक मुख वाली; कृत-स्वस्ति-अयनाम्—शुभ वस्त्रों तथा आभूषणों से सुसज्जित; तृप्ताम्—तृप्त; अभ्यनन्दत्—स्वागत किया; उपागताम्—पास जाकर।

रानी ने स्नान किया और शुभ वस्त्रों तथा आभूषणों से अपने को सुसज्जित किया। भोजन करने तथा परम संतुष्ट होने के बाद वह राजा के पास आई। उस अत्यन्त सुसज्जित तथा आकर्षक मुख वाली को देखकर राजा ने उसका तन्मयता अभिनन्दन किया।

तात्पर्य : स्त्री सामान्यतः अच्छे वस्त्र धारण करती है और सुन्दर आभूषण पहनती है। कभी-कभी वह बालों में फूल भी धारण करती है। स्त्रियाँ प्रायः अपने को संध्या समय सुसज्जित करती हैं, क्योंकि उसी समय उनके पति काम से घर वापस आते हैं। यह तो स्त्री का कर्तव्य है कि जब उसका पति काम से वापस आये तो वह अपने आप को सुन्दर ढंग से सजाए जिससे उस का पति उसे देख कर आकृष्ट हो और सन्तुष्ट रहे। दूसरे शब्दों में, स्त्री समस्त सद्बुद्धि को प्रेरणा देती है। अपनी पत्नी को सुसज्जित देखकर मनुष्य अपने परिवार के विषय में गम्भीरता से विचार कर सकता है। जब मनुष्य पारिवारिक मामलों में अत्यधिक उलझता है, तो वह पारिवारिक कार्यों को ठीक से नहीं कर पाता। अतः स्त्री को प्रेरणाप्रद समझा जाता है और उसे पति की बुद्धि को सुचारु रखना चाहिए जिससे दोनों मिलकर पारिवारिक मामलों को ठीक से चला सकें।

तयोपगूढः परिरब्धकन्धरो

रहोऽनुमन्त्रैरपकृष्टचेतनः ।

न कालरंहो बुबुधे दुरत्ययं

दिवा निशेति प्रमदापरिग्रहः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तया—रानी के द्वारा; उपगूढः—आलिंगन किया; परिरब्ध—आलिंगित; कन्धरः—कंधे; रहः—एकान्त में; अनुमन्त्रैः—विनोदपूर्वक; अपकृष्ट-चेतनः—चेतना को नीचे गिराकर; न—नहीं; काल-रंहः—समय बीतने के साथ; बुबुधे—ज्ञान था; दुरत्ययम्—जीतना असम्भव; दिवा—दिन; निशा—रात्रि; इति—इस प्रकार; प्रमदा—स्त्री द्वारा; परिग्रहः—मोहित।

रानी पुरञ्जनी ने राजा का आलिंगन किया और राजा ने भी उसे बाहों में भर लिया। इस

प्रकार एकान्त में वे विनोद करते रहे और राजा पुरञ्जन अपनी सुन्दर स्त्री पर इतना मोहित रहने लगा कि उसे अच्छे-बुरे का विचार न रहा। वह भूल गया कि रात तथा दिन बीतने का अर्थ है व्यर्थ ही आयु का घटते जाना।

तात्पर्य : इस श्लोक में *प्रमदा* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सुन्दर स्त्री अपने पति के लिए प्रेरणादायक अवश्य है, किन्तु साथ ही अवनति का कारण भी है। *प्रमदा* का अर्थ है “प्रेरणादायक” तथा “प्रमत्त करने वाली।” सामान्यतः गृहस्थ दिन-रात के बीते रहने पर गम्भीरता से ध्यान नहीं देता। अज्ञानी मनुष्य इतना ही समझता है कि दिन आता है और उसके बीत जाने पर रात आती है। यह तो प्रकृति का नियम है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि जब प्रातःकाल सूर्योदय होता है, तो उसकी आयु उसी के अनुसार क्षीण होती जाती है। इस प्रकार दिन-प्रति-दिन जीवन-काल घटता है और मनुष्य अपने कर्तव्य को भूलकर एकान्त में अपनी पत्नी के साथ विषय-भोग में लगा रहता है। ऐसी अवस्था *अपकृष्ट-चेतन* अर्थात् अवनत चेतना कहलाती है। मानवीय चेतना का सदुपयोग कृष्णचेतना (भक्ति) तक ऊपर उठने के लिए होना चाहिए, किन्तु अपनी पत्नी तथा पारिवारिक मामलों में अत्यधिक आसक्त रहने के कारण मनुष्य कृष्णचेतना की परवाह नहीं करता। इस प्रकार वह अपक्रमित होता है और उसे इसका पता भी नहीं रहता कि वह लाखों डालर खर्च करके भी बीते हुए एक भी क्षण को मोल नहीं ले सकता। जीवन की सबसे बड़ी क्षति है श्रीकृष्ण को जाने बिना जीवन बिता देना। हमें जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करना चाहिए और जीवन के समुचित उपयोग का अर्थ है भगवान् की भक्ति बढ़ाना। बिना भगवद्भक्ति के जीवन के सारे कार्य समय के अपव्यय-मात्र हैं। *श्रम एव हि केवलम्।* केवल कर्तव्यनिष्ठ बनकर हम जीवन का लाभ नहीं उठा सकते। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.८) में पुष्टि हुई है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।

नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

यदि ठीक से अपना कर्तव्य करने के बाद कृष्णचेतना में प्रगति नहीं होती तो यह समझना चाहिए सारा श्रम व्यर्थ रहा।

शयान उन्नद्धमदो महामना

महार्हतल्पे महिषीभुजोपधिः ।

तामेव वीरो मनुते परं यत-

स्तमोऽभिभूतो न निजं परं च यत् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

शयानः—लेटा हुआ; उन्नद्ध-मदः—अत्यधिक मोहग्रस्त; महा-मनाः—मनस्वी; महा-अर्ह-तल्पे—बहुमूल्य शय्या पर; महिषी—रानी की; भुज—बाँहें; उपधिः—तकिया; ताम्—उसको; एव—निश्चय ही; वीरः—वीर; मनुते—उसने मान लिया था; परम्—जीवन लक्ष्य; यतः—जिससे; तमः—अज्ञान से; अभिभूतः—आवृत; न—नहीं; निजम्—अपना; परम्—परमेश्वर; च—तथा; यत्—जो।

इस प्रकार अत्यधिक मोहग्रस्त होने से मनस्वी होते हुए भी राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी की भुजाओं के तकिये पर अपना सिर रखे सदैव लेटा रहता था। इस प्रकार वह उस रमणी को ही अपने जीवन का सर्वस्व मानने लगा। अज्ञान के आवरण से ढका होने के कारण उसे आत्म-साक्षात्कार का स्वयं का अथवा भगवान् का कोई ज्ञान न रहा।

तात्पर्य : मनुष्य जीवन आत्म-साक्षात्कार के लिए है। पहले मनुष्य को अपने आपका दर्शन करना होता है, जिसे इस श्लोक में *निजम्* कहा गया है। तब उसे परमात्मा को समझना होता है। किन्तु मनुष्य जब भौतिकता में अत्यधिक अनुरक्त हो जाता है, तो वह स्त्री को ही सब कुछ मानने लगता है। भौतिक आसक्ति का यह मूल सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति में वह न तो अपने आपका और न ही भगवान् का साक्षात्कार कर पाता है। *श्रीमद्भागवत* (५.५.२) में कहा गया है—*महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्*। यदि वह महात्माओं या भक्तों की संगति करता है, तो उसकी मुक्ति का द्वार खुल जाता है। किन्तु यदि वह स्त्रियों के प्रति या स्त्रियों में अनुरक्त रहने वाले पुरुषों के प्रति अर्थात् प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से स्त्रियों के प्रति आकृष्ट होता है, तो उसके लिए *तमो-द्वारम्* अर्थात् नारकीय जीवन के अंधकारमय क्षेत्र का द्वार खुल जाता है।

राजा पुरञ्जन महात्मा, बुद्धिमान तथा उन्नत चेतनावाला व्यक्ति था, किन्तु स्त्री के प्रति अत्यधिक अनुरक्ति के कारण उसकी चेतना मलिन हो गई थी। आधुनिक युग में शराब, स्त्री तथा मांस-भक्षण के कारण लोगों की चेतना अत्यधिक मलिन हो गई। अतः लोग आत्म-साक्षात्कार की दिशा में तनिक भी प्रगति नहीं कर पाते। आत्म-साक्षात्कार की पहली सीढ़ी है अपने आपको शरीर से भिन्न आत्मा मानना। दूसरी सीढ़ी है प्रत्येक आत्मा, अर्थात् प्रत्येक जीव को परमात्मा का अंश-रूप मानना। *भगवद्गीता* (१५.७) में इसकी पुष्टि हुई है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

“इस बद्ध जगत में जीवात्माएँ मेरे शाश्वत अंश हैं। बद्धजीवन के कारण वे मन समेत अपनी छहों इन्द्रियों द्वारा अत्यधिक कठिन संघर्ष करती रहती हैं।”

सभी जीवात्माएँ परमेश्वर के अंशरूप हैं। दुर्भाग्यवश, वर्तमान संस्कृति में स्त्रियों तथा पुरुषों को प्रारम्भ से ही एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होने दिया जाता है; फलस्वरूप वे आत्म-साक्षात्कार की स्थिति तक कभी नहीं पहुँच पाते। उन्हें इसका पता ही नहीं रहता कि बिना आत्म-साक्षात्कार के इस मनुष्य जीवन में सर्वाधिक क्षति होती है। हृदय में स्त्री का निरन्तर चिन्तन करना बहुमूल्य शैय्या पर स्त्री के साथ शयन करने के तुल्य है। हृदय ही असली शैय्या है और वही सर्वाधिक मूल्यवान शैय्या है। जब मनुष्य स्त्री तथा धन के विषय में सोचता है, तो वह अपनी पत्नी की भुजाओं में लेट जाता है और अत्यधिक विषयवासना में फँसकर आत्म-साक्षात्कार के अयोग्य बन जाता है।

तथैवं रममाणस्य कामकश्मलचेतसः ।

क्षणार्धमिव राजेन्द्र व्यतिक्रान्तं नवं वयः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तथा—उसके साथ; एवम्—इस प्रकार; रममाणस्य—रमण करते हुए; काम—काम से पूर्ण; कश्मल—पापपूर्ण; चेतसः—उसका हृदय; क्षण-अर्धम्—आधे क्षण में; इव—सदृश; राज-इन्द्र—हे राजा; व्यतिक्रान्तम्—बीत गया; नवम्—नया; वयः—वायु, जीवन।

हे राजा प्राचीनबर्हिषत्, इस प्रकार राजा पुरञ्जन काम तथा पापमय कर्मफलों से पूरित हृदय से अपनी पत्नी के साथ भोग-विलास करने लगा और इस तरह आधे ही क्षण में उनका नव जीवन तथा युवावस्था बीत गयी।

तात्पर्य : श्रील गोविन्ददास ठाकुर का गीत है—

ए-धन, यौवन, पुत्र, परिजन

इथे कि आछे परतीति रे

कमल-दल-जल, जीवन टलमल

भज हुं हरिपद नीति रे

वे इस गीत में बताते हैं कि युवावस्था के भोगविलास में कोई आनन्द नहीं है। युवावस्था में मनुष्य

सभी प्रकार के विषयों को भोगने के लिए आतुर हो उठता है। रूप, स्वाद, गंध, स्पर्श तथा शब्द—ये इन्द्रियविषय हैं। आधुनिक वैज्ञानिक विधि इन पाँचों इन्द्रियों के भोग को बढ़ावा देती है। नई पीढ़ी सुन्दर रूप देखने, रेडियो समाचार सुनने तथा इन्द्रियों को सुख देने वाले गीत सुनने, सुगन्ध तथा सुन्दर पुष्प सूँघने, तरुणी के नरम शरीर या स्तन को छूने तथा कामेन्द्रियों को सहलाने में अति प्रसन्न होती है। यह सब पशुओं को भी सुखकर लगता है, इसीलिए मानव समाज में पाँच विषयों के भोग पर प्रतिबन्ध है। यदि वह इनका पालन नहीं करता तो वह पशुतुल्य बन जाता है।

इस प्रकार इस श्लोक में स्पष्ट कथन है— *कामकश्मलचेतसः*—राजा पुरञ्जन की चेतना कामेच्छाओं तथा पापकर्मों के कारण दूषित हो चुकी थी। पिछले श्लोक में कहा गया है कि यद्यपि पुरञ्जन की चेतना उन्नत थी, किन्तु वह अपनी पत्नी के साथ कोमल शैय्या पर लेटा रहता था। इससे सूचित होता है कि वह अत्यधिक कामासक्त था। इस श्लोक के *नवं वयः* शब्द भी महत्त्वपूर्ण हैं। ये शब्द सोलह से तीस वर्ष की अवस्था बताते हैं। ये तेरह या पन्द्रह वर्ष ऐसे हैं जिसमें कोई अपनी इन्द्रियों का अत्यधिक भोग कर सकता है। जब मनुष्य इस आयु को प्राप्त करता है, तो वह सोचता है कि जीवन इसी प्रकार चलता रहेगा और इन्द्रियों का भोग होता रहेगा, किन्तु समय तथा ज्वार कभी किसी की प्रतीक्षा नहीं करते। युवावस्था तुरन्त ढल जाती है। जो युवावस्था को पापकर्म करने में ही लगा देता है, वह युवावस्था के बीत जाने पर निराश होता है। युवावस्था के भौतिक सुख उस व्यक्ति को भाते हैं जिसे किसी प्रकार की आध्यात्मिक शिक्षा नहीं मिली रहती। यदि उसे केवल देहात्मबुद्धि की शिक्षा मिली रहती है, तो उसे निराश जीवन बिताना पड़ता है, क्योंकि चालीस वर्ष के अन्दर इन्द्रिय-सुख समाप्त हो जाता है, चालीस वर्ष के बाद उसे मोहरहित जीवन बिताना पड़ता है, क्योंकि उसे आध्यात्मिक ज्ञान नहीं रहता। ऐसे व्यक्ति के लिए युवावस्था का अन्त आधे ही क्षण में हो जाता है। इस प्रकार राजा पुरञ्जन का आनन्द, जिसे वह अपनी पत्नी के साथ लेट कर लूट रहा था, तुरन्त ही बीत गया।

काम-कश्मलचेतसः से भी यह सूचित होता है कि मनुष्य जीवन में प्रकृति के नियमों के द्वारा इन्द्रियभोग की निर्बाध छूट नहीं है। यदि वह निर्बाध होकर इन्द्रियों का भोग करता है, तो उसका जीवन पापमय हो जाता है। पशु प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं करते। उदाहरणार्थ, पशुओं में वर्ष

के कुछ महीनों में ही कामेच्छा अत्यन्त प्रबल रहती है। सिंह अत्यन्त शक्तिशाली होता है—वह मांसभक्षी है और अत्यन्त बलिष्ठ होता है। किन्तु यह वर्ष में केवल एक बार संभोग करता है। इसी प्रकार धार्मिक आदेशों के अनुसार मनुष्य को भी मास में केवल एक बार स्त्री के रजोदर्शन के पश्चात् मैथुन करने की छूट है और यदि पत्नी गर्भवती हो तो संभोग की अनुमति नहीं है। यही मनुष्यों के लिए नियम है। मनुष्य को एक से अधिक पत्नी रखने की अनुमति प्राप्त है, क्योंकि पत्नी के गर्भिणी रहने पर वह उससे संभोग नहीं कर सकता। यदि वह ऐसे समय में संभोग करना चाहता है, तो वह दूसरी पत्नी के पास जा सकता है। ये नियम *मनु संहिता* तथा अन्य शास्त्रों में वर्णित हैं।

ये नियम तथा शास्त्र मनुष्यों के निमित्त हैं, अतः यदि कोई इन नियमों का अतिक्रमण करता है, तो वह पापी है। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि अनियंत्रित इन्द्रिय-भोग का अर्थ है पापमय कर्म। अवैध स्त्रीमैथुन वह है, जिससे शास्त्रों के नियमों का उल्लंघन होता है। जब कोई शास्त्रों या वेदों के नियमों का अतिक्रमण करता है, तो वह पापकर्म करता है। जो मनुष्य पापकर्म करता है, वह अपनी चेतना नहीं बदल सकता। हमारा वास्तविक कार्य है कि हम अपनी चेतना को *कश्मल* से परम शुद्ध कृष्णचेतना में बदलें। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है (*परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्*)। श्रीकृष्ण ही परम विशुद्ध हैं और यदि हम अपनी चेतना को भौतिक सुख से कृष्ण की ओर मोड़ते हैं, तो हम शुद्ध बनते हैं। इसी विधि की संस्तुति भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने *चेतो-दर्पण-मार्जनम्* प्रक्रिया के नाम से की है।

तस्यामजनयत्पुत्रान्पुरञ्जन्यां पुरञ्जनः ।

शतान्येकादश विराडायुषोऽर्धमथात्यगात् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उस; अजनयत्—उत्पन्न किये; पुत्रान्—पुत्र; पुरञ्जन्याम्—पुरञ्जनी से; पुरञ्जनः—राजा पुरञ्जन ने; शतानि—सौ; एकादश—ग्यारह; विराट्—हे राजा; आयुषः—जीवन का; अर्धम्—आधा; अथ—इस तरह; अत्यगात्—उसने व्यतीत किया।

तब नारद मुनि ने राजा प्राचीनबर्हिषत् को सम्बोधित करते हुए कहा : हे विराट्, इस प्रकार राजा पुरञ्जन के अपनी पत्नी पुरञ्जनी के गर्भ से १,१०० पुत्र उत्पन्न हुए। किन्तु इस कार्य में उसका आधा जीवन व्यतीत हो गया।

तात्पर्य : इस श्लोक में कई महत्त्वपूर्ण शब्द हैं जिनमें सबसे पहले *एकादश शतानि* हैं। पुरञ्जन को

अपनी पत्नी से ११०० पुत्र उत्पन्न हुए और इस प्रकार उसका आधा जीवन व्यतीत हो गया। वास्तव में हर मनुष्य के साथ ऐसा होता है। यदि कोई सौ वर्ष तक जीवित रहता है, तो इसमें से पचास वर्ष की आयु तक उसके पुत्र उत्पन्न होते रहते हैं। दुर्भाग्यवश इस समय लोग सौ वर्ष भी जीवित नहीं रहते तो भी वे साठ वर्ष की आयु तक सन्तान उत्पन्न करते हैं। दूसरी बात यह कि पहले के लोग एक सौ से दो सौ तक पुत्र तथा पुत्रियाँ उत्पन्न करते थे। जैसाकि अगले श्लोक से पता चलेगा, राजा पुरञ्जन के १,१०० पुत्रों के साथ-साथ ११० पुत्रियाँ भी पैदा हुईं। इस समय के लोग इतनी अधिक सन्तानें उत्पन्न नहीं कर सकते। उल्टे, वे गर्भनिरोधक विधियों द्वारा जनसंख्या को रोकने के लिए प्रयत्नशील हैं।

हमें वैदिक साहित्य में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता जिसमें गर्भनिरोधक विधियों का प्रयोग हुआ हो, यद्यपि वे सैकड़ों संतानें उत्पन्न करते थे। गर्भनिरोधक विधि से जनसंख्या पर नियंत्रण एक अन्य पापकर्म है, किन्तु इस कलियुग में लोग इतने पापी हो गये हैं कि वे अपने पापमय जीवन के फलों की तनिक भी परवाह नहीं करते। राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी पुरञ्जनी के साथ लेटा रहता था और उसने अनेक सन्तानें उत्पन्न कीं, किन्तु इन श्लोकों में कहीं कोई उल्लेख नहीं कि उसने गर्भनिरोधक विधि का उपयोग किया हो। वैदिक शास्त्रों के अनुसार गर्भनिरोधक विधि तो विषयी जीवन पर संयम रखना होनी चाहिए। इसमें ऐसा नहीं है कि निर्बाध गति से संभोग तो किया जाये, किन्तु गर्भाधान को रोककर सन्तानें न उत्पन्न होने दी जाँय। यदि मनुष्य की चेतना ठीक है, तो वह अपनी धर्मपत्नी की राय लेता है और फिर बुद्धिपूर्वक जीवन-मान निर्धारित करता है। दूसरे शब्दों में, यदि सौभाग्यवश अच्छी प्रयत्नशील पत्नी प्राप्त हुई तो पारस्परिक विचार-विमर्श से मनुष्य यह निश्चित कर सकता है कि यह जीवन कृष्णचेतना में प्रगति के निमित्त है, अनेक सन्तानें उत्पन्न करने के लिए नहीं। सन्तानें परिणाम हैं और जब मनुष्य अपनी सद्बुद्धि की राय लेता है, तो वह देख सकता है कि उसकी कृष्णचेतना का विस्तार ही उसकी सन्तानें अथवा परिणाम होने चाहिए।

दुहितृर्दशोत्तरशतं पितृमातृयशस्करीः ।
शीलौदार्यगुणोपेताः पौरञ्जन्यः प्रजापते ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

दुहितृः—कन्याएँ; दश-उत्तर—दस अधिक; शतम्—एक सौ; पितृ—पिता; मातृ—तथा माता के समान; यशस्करीः—यशस्वी; शील—उत्तम आचरण; औदार्य—उदारता; गुण—गुण; उषेताः—से युक्त; पौरञ्जन्यः—पुरञ्जन की कन्याएँ; प्रजा-पते—हे प्रजापति!

हे प्रजापति राजा प्राचीनबर्हिषत्, इस तरह राजा पुरञ्जन के ११० कन्याएँ भी उत्पन्न हुईं। ये सब-की-सब अपने पिता तथा माता के समान यशस्विनी थी; उनका आचरण भद्र था, ये उदार थीं और अन्य उत्तम गुणों से युक्त थीं।

तात्पर्य : शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार उत्पन्न सन्तानें माता-पिता के ही समान उत्तम गुणों वाली होती हैं, किन्तु अवैध रूप से उत्पन्न सन्तानें वर्णसंकर हो जाती हैं। वर्णसंकर सन्तान अपने परिवार, कुल, यहाँ तक कि अपने प्रति भी अनुत्तरदायित्वपूर्ण होती है। प्राचीन काल में गर्भाधान संस्कार का पालन करके वर्णसंकर सन्तानों पर रोक रखी जाती थी। इस श्लोक में यद्यपि हम राजा पुरञ्जन के अनेक सन्तानें पाते हैं, किन्तु वे वर्णसंकर नहीं थीं। वे सबकी सब उत्तम आचरण वाली सन्तानें थीं और उनमें अपने माता-पिता के ही समान सारे उत्तम गुण थे।

भले ही हम अनेक उत्तम सन्तानें उत्पन्न कर लें, किन्तु संभोग के लिए निर्धारित विधि से परे की हमारी आकांक्षा पापपूर्ण तो है ही। किसी भी इन्द्रिय का अत्यधिक भोग पापपूर्ण कार्य को जन्म देता है। अतः मनुष्य को जीवन के अन्त में स्वामी या गोस्वामी बनना पड़ता है। मनुष्य पचास वर्ष तक सन्तान उत्पन्न कर सकता है, किन्तु इसके बाद उसे सन्तान उत्पन्न करना बन्द करके वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार उसे घर छोड़कर संन्यासी बनना होता है। संन्यासी की पदवी स्वामी या गोस्वामी है, जिसका अर्थ है कि वह भोग से सर्वथा दूर रहता है। मनुष्य को सनक में आकर संन्यासी नहीं बनना चाहिए, उसे पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि वह विषयवासनाओं को पूरी तरह रोक सकेगा। निस्सन्देह, राजा पुरञ्जन का गृहस्थ जीवन अत्यन्त सुखी था। जैसा यहाँ वर्णित है, उसके ११०० पुत्र तथा ११० पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि उसके पुत्र तथा पुत्रियाँ उत्पन्न हों और चूँकि राजा पुरञ्जन की पुत्रियों की संख्या पुत्रों से कम थी, इससे ऐसा लगता है कि उसका गृहस्थ जीवन अत्यन्त सुखी एवं सुविधाजनक था।

स पञ्चालपतिः पुत्रान्पितृवंशविवर्धनान् ।

दारैः संयोजयामास दुहितृः सदृशैर्वैः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; पञ्चाल-पतिः—पञ्चाल का राजा; पुत्रान्—पुत्र; पितृ-वंश—पिता का वंश; विवर्धनान्—बढ़ाते हुए; दारैः—पत्नियों सहित; संयोजयाम् आस—विवाह किया; दुहितुः—कन्याएँ; सदृशैः—योग्य; वरैः—पत्नियों के साथ।

तत्पश्चात् पञ्चाल देश के राजा पुरञ्जन ने अपने पैतृक कुल की वृद्धि के लिए अपने पुत्रों का विवाह योग्य वधुओं के साथ और अपनी कन्याओं का विवाह योग्य वरों के साथ कर दिया।

तात्पर्य : वैदिक प्रथा के अनुसार हर व्यक्ति को विवाहित होना चाहिए। मनुष्य को इसलिए पत्नी ग्रहण करनी पड़ती है कि वह सन्तान उत्पन्न कर सके और ये सन्तानें आगे चलकर भोजन तथा दाह-क्रिया जैसे कार्य सम्पन्न कर सकें जिससे पुरखे प्रसन्न रह सकें। भगवान् विष्णु के नाम पर दिया गया अर्पण पिण्डोदक कहलाता है और किसी भी वंश के वंशजों के लिए आवश्यक है कि अपने पितरों को पिण्ड प्रदान करे।

पञ्चाल का राजा पुरञ्जन न केवल अपने विषयी जीवन से तुष्ट था, अपितु उसने अपने ११०० पुत्रों तथा ११० पुत्रियों को विवाहित उनके काम-भोग जीवन की व्यवस्था कर दी। इस प्रकार निरंकुश परिवार को वंश के पद तक उठाया जा सकता है। इस श्लोक की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पुरञ्जन ने अपने पुत्रों तथा पुत्रियों सभी का विवाह करा दिया। माता-पिता का कर्तव्य है कि वह अपने पुत्रों तथा पुत्रियों के विवाह की व्यवस्था करे। वैदिक समाज में यह अनिवार्य है। विवाह के पूर्व पुत्रों तथा पुत्रियों को विपरीत लिंगी लोगों से स्वच्छन्दतापूर्वक मिलने नहीं दिया जाना चाहिए। इस वैदिक सामाजिक संगठन की विशेष बात यही है कि इससे अवैध स्त्री-प्रसंग या कि वर्णसंकरता रुकती है, जो कि इस समय विविध नामों के रूप में प्रचलित है। दुर्भाग्यवश इस युग में माता-पिता अपनी सन्तानों को विवाहित करने के लिए चिन्तित रहते हैं, किन्तु सन्तानें माता-पिता द्वारा व्यवस्थित विवाह करने से मना कर देती हैं। इसीलिए संसार में विभिन्न नामों के अन्तर्गत वर्णसंकरों की इतनी वृद्धि हो रही है।

पुत्राणां चाभवन्पुत्रा एकैकस्य शतं शतम् ।

यैर्वै पौरञ्जनो वंशः पञ्चालेषु समेधितः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

पुत्राणाम्—पुत्रों के; च—भी; अभवन्—उत्पन्न हुए; पुत्राः—पुत्र; एक-एकस्य—प्रत्येक के; शतम्—एक सौ; शतम्—सौ; यैः—जिनसे; वै—निश्चय ही; पौरञ्जनः—राजा पुरञ्जन का; वंशः—वंश; पञ्चालेषु—पंचाल देश में; समेधितः—फैल गया।

इन अनेक पुत्रों में से प्रत्येक के कई सौ पुत्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार राजा पुरञ्जन के पुत्रों तथा

पौत्रों से सारा पंचाल देश भर गया।

तात्पर्य : हमें स्मरण रखना चाहिए कि पुरञ्जन जीव है और पंचाल देश शरीर है। शरीर जीव की कर्मभूमि है, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ*। अंग दो होते हैं—एक तो जीव (क्षेत्रज्ञ) तथा, दूसरा जीव का शरीर (क्षेत्र)। यदि कोई थोड़ा भी विचार करे तो स्पष्ट हो जाएगा कि प्रत्येक जीव शरीर से ढका हुआ है और शरीर ही उसकी सम्पत्ति है। व्यावहारिक अनुभव तथा शास्त्रों से यह जाना जा सकता है। *भगवद्गीता* (२.१३) में कहा गया है—*देहिनोऽस्मिन्यथा देहे*। शरीर का स्वामी—आत्मा—इस शरीर के भीतर रहता है। यह शरीर पंचाल देश है जहाँ जीव गंध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द के द्वारा इन्द्रियों का भोग कर सकता है। इस संसार में प्रत्येक जीव सूक्ष्म तथा स्थूल तत्त्वों से आवृत होकर कर्म तथा कर्मफल उत्पन्न करता है, जिन्हें रूपक के रूप में पुत्र तथा पौत्र कहा गया है। ये कर्मफल दो प्रकार के होते हैं—पवित्र तथा अपवित्र। इस प्रकार हमारा जीवन विभिन्न कर्मफलों से आवृत होता रहता है। इस प्रसंग में श्रील नरोत्तम दास ठाकुर लिखते हैं—

कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, केवल विषेर भाण्ड

अमृत बलिया येबा खाय

नाना योनि सदा फिरे, कदर्य भक्षण करे

तार जन्म अधःपाते याय

“कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड विष के प्याले के तुल्य हैं। जो भी इन्हें अमृत समझ कर पीता है उसे नाना शरीरों में अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है। ऐसा मनुष्य सभी प्रकार के भक्ष्याभक्ष्य खाता है और अपने इन्द्रियभोग के कारण सर्वत्र घृणित बनता है।”

इस प्रकार जिससे वंश-वृद्धि होती है, वह कर्मफलों का क्षेत्र विषयी जीवन से प्रारम्भ होता है। पुरञ्जन ने अपने वंश की वृद्धि पुत्र तथा पौत्र उत्पन्न करके की। इस प्रकार जीवात्मा इन्द्रियतृप्ति में लगकर हजारों कर्मों तथा कर्मफलों में फँसता है। इस प्रकार वह इस संसार में इन्द्रियतृप्ति के लिए रहता है और एक शरीर से दूसरे में अन्तरण करता रहता है। अनेक पुत्र तथा पौत्र उत्पन्न करने की इस विधि से तथाकथित समाज, राष्ट्र, जाति इत्यादि का जन्म होता है। ये सब विषयी जीवन के प्रतिफल हैं। जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने कहा है (भागवत ७.९.४५)—*यन्मैथुनादि गृहमेधि सुखं हि तुच्छम्*।

गृहमेधी वह है, जो इस संसार में बना रहना चाहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह इस शरीर या समाज के भीतर रह कर मित्रता, प्रेम तथा वंश-सुख भोगना चाहता है। उसका एकमात्र सुख है कि इन्द्रियसुखार्थियों की संख्या बढ़े। वह स्त्री-संभोग करता है, पुत्र उत्पन्न करता है, जिनके विवाह के पश्चात् पौत्र उत्पन्न होते हैं। ये पौत्र भी विवाह करके सन्तानें उत्पन्न करते हैं। इससे सारा संसार आवश्यकता से अधिक आबाद हो जाता है और तब प्रकृति युद्ध, भुखमरी, रोग, भूकम्प इत्यादि के रूप में नाना प्रकार के कर्मफल उत्पन्न करती है। इस तरह सारी जनसंख्या विनष्ट होकर पुनः जन्म लेती है। *भगवद्गीता* (८.१९) में बारम्बार सृजन तथा प्रलय की यह क्रिया वर्णित है— *भूत्वा भूत्वा प्रलीयते*। कृष्णाचेतना के अभाव में यह सारी सृष्टि तथा विनाश मानव-सभ्यता के नाम पर चलते रहते हैं। आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के अभाव में यह चक्र निरन्तर चलता जाता है।

तेषु तद्विक्थहारेषु गृहकोशानुजीविषु ।

निरूढेन ममत्वेन विषयेष्वन्वबध्यत ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तेषु—उनमें; तत्—रिक्थ-हारेषु—इस धन के लुटेरे; गृह—घर; कोश—खजाना; अनुजीविषु—सेवकों के लिए; निरूढेन—गहरी; ममत्वेन—आसक्ति से; विषयेषु—विषयों में; अन्वबध्यत—बद्ध हो गया।

ये पुत्र तथा पौत्र एक प्रकार से पुरञ्जन के घर, खजाना, नौकर, सचिव एवं दूसरे सारे साज-सामान समेत सारी धन-सम्पदा को लूटने वाले थे तथा अन्य साज-सामान सारी धन सम्पदा को लूटने वाले थे। राजा पुरञ्जन का इन वस्तुओं से प्रगाढ़ सम्बन्ध था।

तात्पर्य : इस श्लोक का *रिक्थहारेषु* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है “धन को लूटने वाले।” किसी के भी पुत्र, पौत्र तथा अन्य वंशज अन्ततः उसकी संचित सम्पत्ति के लुटेरे ही तो होते हैं। ऐसे अनेक विख्यात व्यापारी तथा उद्योगपति हैं, जो अनन्त सम्पत्ति अर्जित करते हैं और जिनकी जनता में काफी प्रतिष्ठा रहती है, किन्तु अन्त में उनकी सारी सम्पत्ति उनके पुत्रों तथा पौत्रों द्वारा लूट ली जाती है। हमने भारत में एक ऐसा उद्योगपति देखा है, जो राजा पुरञ्जन की ही तरह अत्यन्त विषयी था और जिसके आधा दर्जन पत्नियाँ थीं। इन पत्नियों में से हर एक के लिए पृथक्-पृथक् आवास का प्रबन्ध था, जिसमें हजारों रुपये खर्च होते थे। जब मैं उससे बातें कर रहा था, तो मैंने देखा कि वह अपने प्रत्येक पुत्र तथा पुत्री के लिए कम-से-कम पाँच लाख रुपये जुटाने के लिए प्रयत्नशील था। इस

तरह ऐसे उद्योगपति, व्यापारी या कर्मी शास्त्रों में मूढ कहे जाते हैं। वे कठिन श्रम करते हैं, धन जोड़ते हैं और इसमें सुख पाते हैं कि उनके पुत्र तथा पौत्र उस धन को लूटें। ऐसे लोग अपनी सम्पत्ति को वास्तविक मालिक के पास लौटाना नहीं चाहते। जैसाकि *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है—
 भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्—समस्त सम्पत्ति का असली स्वामी तथा भोक्ता परमेश्वर है तथाकथित धन कमाने वाले वे हैं, जो व्यापार तथा उद्योग के नाम पर भगवान् के धन को छीनने के दाव-पेच जानते हैं। इस धन को संग्रह करने के बाद उन्हें इससे अपने पुत्रों तथा पौत्रों द्वारा लुटता देखकर आनन्द होता है। यह जीवन की भौतिकतावादी शैली है। इसमें मनुष्य शरीर के भीतर बन्दी रहता है और मिथ्या अहंकार के द्वारा मोहग्रस्त रहता है। इस प्रकार वह सोचता है, “मैं यह शरीर हूँ,” “मैं मनुष्य हूँ,” “मैं अमरीकी या भारतीय हूँ।” यह देहात्मबुद्धि अहंकार के कारण उत्पन्न होती है। इसी मिथ्या अहंकार के वशीभूत होकर मनुष्य अपने को परिवार, राष्ट्र या समुदाय से अपने को एकाकार समझता है। इस प्रकार भौतिक जगत से उसकी आसक्ति बढ़ती ही जाती है और फिर जीव के लिए इस बंधन से निकल पाना कठिन हो जाता है। ऐसे लोगों का वर्णन *भगवद्गीता* में सोलहवें अध्याय (१६.१३-१५) में इस प्रकार हुआ है—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्ये मनोरथम् ।

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥

“आसुरी पुरुष सोचता है : आज मेरे पास इतना धन है और कल तक मैं अपनी योजनाओं द्वारा इतना और जोड़ लूँगा। इस समय मेरी सम्पत्ति इतनी है और भविष्य में बढ़कर इतनी हो जायेगी। वह मेरा शत्रु है, मैंने उसे मार दिया है और मेरे अन्य शत्रु भी मारे जायेंगे। मैं हर वस्तु का स्वामी हूँ, मैं ही भोक्ता हूँ, मैं पूर्ण हूँ, शक्तिमान तथा सुखी हूँ। मैं सबसे धनी व्यक्ति हूँ और अपने कुलीन परिजनों से घिरा हुआ हूँ। मेरे समान कोई अन्य शक्तिशाली तथा सुखी नहीं है। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और सुख

भोगूँगा, इस प्रकार ऐसे व्यक्ति अविद्या द्वारा मोहित किये जाते हैं।”

इस प्रकार लोग विभिन्न श्रमसाध्य कार्यों में लगे रहते हैं और शरीर, घर, परिवार, राष्ट्र इत्यादि के प्रति उनकी आसक्ति गहराती जाती है।

ईजे च क्रतुभिर्घोरैर्दीक्षितः पशुमारकैः ।
देवान्पितृभूतपतीन्नानाकामो यथा भवान् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ईजे—पूजा की; च—भी; क्रतुभिः—यज्ञों से; घोरैः—नृशंस; दीक्षितः—प्रोत्साहित होकर; पशु-मारकैः—जिसमें पशुओं का वध किया जाता है; देवान्—देवतागण; पितृन्—पूर्वज, पुरखे; भूत-पतीन्—मानव समाज के बड़े-बड़े नेता; नाना—विविध; कामः—इच्छाओं से युक्त; यथा—जिस प्रकार; भवान्—तुम।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजा प्राचीनबर्हिषत्, तुम्हारी ही तरह राजा पुरञ्जन भी अनेक इच्छाओं में उलझा हुआ। इसलिए उसने देवताओं, पितरों तथा सामाजिक नेताओं की पूजा विविध यज्ञों द्वारा की, किन्तु ये सारे यज्ञ नृशंस थे, क्योंकि उनके पीछे पशुओं के वध की भावना काम कर रही थी।

तात्पर्य : इस श्लोक में नारद मुनि कहते हैं कि वे पुरञ्जन के चरित्र द्वारा राजा प्राचीनबर्हिषत् को उपदेश देना चाहते हैं। वास्तव में राजा प्राचीनबर्हिषत् के कार्यों का यह सारा वर्णन अलंकारमयी भाषा में है। इस श्लोक में नारद स्पष्ट कहते हैं—*यथा भवान्* अर्थात् तुम्हारी तरह, जिससे सारा सन्देह दूर हो जाता है और संकेत मिलता है कि राजा पुरञ्जन स्वयं राजा प्राचीनबर्हिषत् है। परम वैष्णव होने के नाते नारद मुनि यज्ञों में पशुवध को बन्द कराना चाह रहे थे। वे जानते थे कि यदि वे राजा को यज्ञ बन्द करने के लिए कहेंगे तो वह नहीं मानेगा; इसीलिए वे पुरञ्जन का चरित्र सुना रहे हैं। किन्तु वे इस श्लोक में अपने मनोभाव को चाहे अपूर्ण रूप से, “तुम्हारी तरह” कहकर प्रकट कर देते हैं। सामान्यतः कर्मी जनों को जिनकी आसक्ति अपने वंशजों की संख्या बढ़ाने में होती है उनको अनेक यज्ञ करने होते हैं और भविष्य के लिए अनेक देवताओं की पूजा करनी होती है तथा अनेक नेताओं, राजनीतितज्ञों, विचारकों तथा विज्ञानियों को प्रसन्न रखना होता है ताकि आने वाली पीढ़ियाँ ठीक तरह से रह सकें। तथाकथित वैज्ञानिक भावी पीढ़ियों की सुख-सुविधा के लिए अत्यधिक उत्सुक दिखते हैं, इसीलिए वे इंजनों, कारों, वायुयानों इत्यादि को चलाने के लिए तरह-तरह से ऊर्जा उत्पन्न करने के उपायों की खोज करने का प्रयास कर रहे हैं। अब तो पेट्रोल कम हो रहा है। ये सारे कार्यकलाप

भगवद्गीता (२.४१) में वर्णित हैं—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धियोऽव्यवसायिनाम् ॥

“जो लोग आध्यात्मिक पथ पर हैं, वे अपने उद्देश्य के प्रति दृढ़संकल्प हैं और उनका लक्ष्य एक है। हे कुरुनन्दन! जो लोग संकल्पशील नहीं हैं उन्हीं की बुद्धि अनेक शाखाओं में विभक्त होती है।”

वास्तव में जो सब कुछ जानते हैं, वे कृष्णभक्ति करने के लिए तत्पर रहते हैं, किन्तु जो मूढ़ हैं, दुष्कृतनाः हैं और नराधम हैं—जो समस्त प्रकार की बुद्धि से रहित हैं (*माययापहतज्ञानाः*) और जो आसुरी जीवन बिताते हैं (*आसुरं भावम् आश्रितः*), वे कृष्ण भक्ति में कोई रुचि नहीं दिखाते। फलतः वे नाना प्रकार के कर्मों में फँसते रहते हैं। ऐसे कार्य मुख्य रूप से पशुवध पर केन्द्रित होते हैं। आधुनिक सभ्यता पशु-वध पर केन्द्रित है। कर्मी लोग विज्ञापित करते हैं कि बिना मांसाहार के विटामिन-आपूर्ति सम्भव नहीं है और उनका बल घटेगा, अतः अपने को काम करने के योग्य बनाये रखने के लिए मांस खाना चाहिए, फिर इस मांस को पचाने के लिए मदिरा पीनी चाहिए और फिर मदिरापान और मांस भक्षण में संतुलन रखने के लिए गधे की तरह घोर परिश्रम करने के लिए प्रचुर संभोग भी करना चाहिए।

पशु-वध की दो विधियाँ हैं। एक धार्मिक यज्ञों के नाम पर पशु-वध किया जाता है। बौद्ध धर्म को छोड़कर संसार के सारे धर्मों में पूजा के निमित्त पशुओं के वध किये जाने की व्यवस्था है। वैदिक सभ्यता के अनुसार मांसाहारियों को कतिपय विधि-विधानों के अनुसार कालीमन्दिर में बकरे की बलि देने की छूट है, जिसके मांस को खाया जा सकता है। इसी प्रकार चण्डिका देवी की पूजा करके सुरा पीने का भी विधान है। इसका उद्देश्य प्रतिबन्ध है, किन्तु लोगों ने सारे प्रतिबन्धों को तिलांजलि दे दी है। वे नियमित रूप से मद्यशालाएँ तथा कसाईघर खोलते जा रहे हैं और मद्यपान तथा मांसाहार करते रहते हैं। नारद मुनि जैसे वैष्णव आचार्य को ज्ञात था कि धर्म के नाम पर पशुओं का वध करने वाले जन्म-मृत्यु के चक्कर में पड़ते रहते हैं और जीवन के असली उद्देश्य जो परम-धाम को वापस जाना है, उसका भूल जाते हैं।

इस प्रकार महर्षि नारद जब व्यास मुनि को *श्रीमद्भागवत* का उपदेश दे रहे थे तो उन्होंने वेदों में

वर्णित कर्मकाण्ड विधियों की भर्त्सना की। उन्होंने व्यास से कहा—

जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः

स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः ।

यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो

न मन्यते तस्य निवारणं जनः ॥

“सामान्यतः लोगों में भोग की सहज प्रवृत्ति होती है और तुमने तो धर्म के नाम पर उन्हें ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित किया है। यह गृहित और निष्प्रयोजनीय है। चूँकि वे तुम्हारे आदेशों से निर्देशित होते हैं, वे ऐसे कार्यों को धर्म के नाम पर स्वीकार करेंगे और वर्जनाओं की तनिक भी परवाह नहीं करेंगे (भागवत १.५.१५)।”

श्रील नारद ने व्यासदेव को अनेक उपवेदों का संकलन करने के लिए धिक्कारा है, जो साधारण मनुष्य के मार्गदर्शन के लिए हैं। नारद ने इनकी भर्त्सना की है, क्योंकि इनमें सीधी भक्ति का नामोल्लेख भी नहीं है। नारद के ही आदेशों पर व्यासदेव ने भगवान् की प्रत्यक्ष पूजा का विधान किया जिसका उल्लेख *श्रीमद्भागवत* में हुआ है। निष्कर्ष यह है कि न तो भगवान् विष्णु, न ही उनका भक्त धर्म के नाम पर पशुवध की अनुमति देता है। निस्सन्देह, धर्म के नाम पर पशुवध को समाप्त करने के उद्देश्य से ही कृष्ण ने भगवान् बुद्ध के रूप में अवतार लिया। तमोगुण के प्रभाव से ही धर्म के नाम पर पशुवध किया जाता है जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.३१-३२) में इंगित किया गया है—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।

अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।

सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

“हे पार्थ! वह अपूर्ण बुद्धि राजसी है, जो धर्म तथा अधर्म, करणीय तथा अकरणीय में अन्तर नहीं कर पाती। जो बुद्धि अधर्म को धर्म तथा धर्म को अधर्म मानती है और मोह तथा अंधकार में रहकर सदैव विपरीत दिशा में लगी रहती है, उसे तामसी बुद्धि कहते हैं।”

जो तमोगुणी हैं, वे पशुओं के वध के लिए धार्मिक प्रणालियाँ गढ़ते हैं। वास्तव में धर्म दिव्य है।

जैसाकि भगवान् श्रीकृष्ण की शिक्षा है, हमें समस्त धर्मों का परित्याग करके उन्हीं की शरण में जाना चाहिए (*सर्वधर्मान्परित्यज्य*)। इस प्रकार भगवान्, उनके भक्त तथा प्रतिनिधि सभी दिव्य धर्म की शिक्षा देते हैं, जिसमें पशुवध के लिए कोई स्थान नहीं है। सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इस समय भारत में अनेक तथाकथित मिशनरी धर्म के नाम पर अधर्म फैला रहे हैं। वे सामान्य व्यक्ति को ईश्वर मानते हैं और प्रत्येक व्यक्ति को, जिसमें तथाकथित संन्यासी भी सम्मिलित हैं, मांस खाने को कहते हैं।

युक्तेष्वेवं प्रमत्तस्य कुटुम्बासक्तचेतसः ।

आससाद स वै कालो योऽप्रियः प्रिययोषिताम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

युक्तेषु—उपयोगी कर्मों में; एवम्—इस प्रकार; प्रमत्तस्य—असावधान रहकर; कुटुम्ब—परिवार के प्रति; आसक्त—अनुरक्त; चेतसः—चेतना; आससाद—आ गया; सः—वह; वै—निश्चय ही; कालः—मृत्यु, समय; यः—जो; अप्रियः—अच्छा न लगने वाला; प्रिय-योषिताम्—जो पुरुष स्त्रियों में अनुरक्त रहते हैं, उनके लिए।

इस प्रकार राजा पुरञ्जन कर्मकाण्ड में तथा अपने परिवार के प्रति अनुरक्त रहकर और दूषित चेतना होने से अन्ततः ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया जिसे भौतिक वस्तुओं में बुरी तरह अनुरक्त लोग बिल्कुल नहीं चाहते।

तात्पर्य : इस श्लोक में *प्रिययोषिताम्* तथा *अप्रियः* अत्यन्त सार्थक शब्द हैं। *योषित्* का अर्थ है “स्त्री” और प्रिय का अर्थ है “प्यारा” या “मनभावन।” मृत्यु उन्हें प्रिय नहीं लगती जो भौतिक सुख के प्रति अधिक अनुरक्त रहते हैं और जिसका अन्त संभोग में होता है। इस प्रसंग में एक अत्यन्त शिक्षाप्रद कहानी है। एक बार एक साधु पुरुष मार्ग पर जा रहा था, तो उसे एक राजकुमार मिला। उसने उसे यह कह कर आशीर्वाद दिया, “राजकुमार! तुम सदा जीते रहो।” फिर उसे एक अन्य साधु पुरुष मिला तो उससे उसने कहा, “चाहो तो जिओ या मरो।” फिर उसे एक ब्रह्मचारी भक्त मिला तो उसे आशीर्वाद दिया, “हे भक्त! तुम तुरन्त मर जाओ।” अन्त में उसे एक शिकारी मिला। उसने कहा, “न तो जिओ, न मरो।” बात ऐसी है कि जो लोग कामी हैं और इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं, वे मरना नहीं चाहते। सामान्य रूप से राजकुमार के पास इन्द्रियभोग के लिए पर्याप्त धन होता है, इसीलिए साधु ने कहा कि तुम सदा जीते रहो, क्योंकि जब तक वह जीवित रहेगा सुख भोगेगा और मरने के बाद नरक जाएगा। चूँकि ब्रह्मचारी भक्त तपस्वी जीवन बिता रहा था जिससे कि वह भगवान् के धाम जाए, इसलिए साधु पुरुष ने उसे आशीर्वाद दिया कि वह तुरन्त मर जाए जिससे वृथा श्रम करते रहना न पड़े

और वह भगवद्धाम जा सके। साधु पुरुष चाहे मरे या जीवित रहे क्योंकि जीवन के दौरान वह भगवान् की सेवा में लगा है और मृत्यु के बाद भी वह भगवान् की सेवा ही करेगा उसका अतः वर्तमान जीवन तथा अगला जीवन एक सा ही है क्योंकि वह दोनों प्रकार से भगवान् की सेवा करता है। चूँकि शिकारी पशुओं के वध का जघन्य कार्य करता है और चूँकि मरने पर वह नरक जायेगा, इसीलिए उसे उपदेश दिया गया कि वह चाहे जिये या मरे।

अन्त में राजा पुरञ्जन को बुढ़ापा आ गया। बुढ़ापे में इन्द्रियाँ शिथिल पड़ने लगती हैं और यद्यपि वृद्धपुरुष इन्द्रियों को भोगना चाहता है, विशेष रूप से विषयसुख, किन्तु ऐसा करने में असमर्थ रहता है, क्योंकि इन्द्रियाँ साथ नहीं दे पातीं। ऐसे कामी पुरुष कभी मरना नहीं चाहते। ऐसे लोग निरन्तर जीवित रहना तथा तथाकथित वैज्ञानिक विधि से अपने जीवन को बढ़ाना चाहते हैं। कुछ मूर्ख रूसी विज्ञानी भी दावा करते हैं कि वैज्ञानिक प्रगति से वे मनुष्य को अमर बनाने जा रहे हैं। ऐसे ही सिरफिरो के नेतृत्व में सभ्यता आगे बढ़ रही है। किन्तु निर्मम मृत्यु इन सबों को समेट लेती है, यद्यपि वे सदा जीवित रहना चाहते हैं। हिरण्यकशिपु में ऐसी ही प्रवृत्ति देखने को मिलती है, किन्तु जब समय आ गया तो भगवान् ने स्वयं क्षण-भर में उसका अन्त कर दिया।

चण्डवेग इति ख्यातो गन्धर्वाधिपतिर्नृप ।

गन्धर्वास्तस्य बलिनः षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

चण्डवेगः—चण्डवेग; इति—इस प्रकार; ख्यातः—विख्यात; गन्धर्व—गन्धर्वलोक का वासी; अधिपतिः—राजा; नृप—हे राजा; गन्धर्वाः—अन्य गन्धर्व; तस्य—उसके; बलिनः—अत्यन्त बलशाली सैनिक; षष्टि—साठ; उत्तर—अधिक; शत—सौ; त्रयम्—तीन।

हे राजन्, गन्धर्वलोक में चण्डवेग नाम का एक राजा है। उसके अधीन ३६० अत्यन्त शक्तिशाली गन्धर्व सैनिक हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर आलंकारिक ढंग से काल का वर्णन चण्डवेग के रूप में हुआ है। क्योंकि समय और ज्वार किसी की प्रतीक्षा नहीं करते, यहां काल को चण्डवेग कहा गया है, जिसका अर्थ होता है, “अत्यन्त तेजी से गुजरने वाला।” ज्यों-ज्यों काल बीतता है इसकी गणना वर्षों के रूप में की जाती है। एक वर्ष में ३६० दिन होते हैं और चण्डवेग के सैनिकों की भी संख्या इस श्लोक में इतनी ही बताई गई है। समय तेजी से बीतता है और चण्डवेग के सैनिक हमारे जीवन-दिनों को तेजी से लेते

जाते हैं। ज्योंही सूरज उदय तथा अस्त होता है हमारी जीवन-अवधि घटती जाती है। इस प्रकार एक दिन बीतने के साथ ही हमारे जीवन का एक दिन चला जाता है। इसीलिए कहा गया है कि जीवन की अवधि को बचा के नहीं रखा जा सकता। किन्तु यदि मनुष्य भक्ति में लग जाता है, तो सूर्य उससे समय को छीन नहीं सकता। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (२.३.१७) में कहा गया है— *आयुर्हरति वै पुंसामुद्यत्तस्तं च यत्नसौ*। तात्पर्य यह कि यदि कोई अमर होना चाहता है, तो उसे इन्द्रियतृप्ति त्याग देनी चाहिए। भक्ति में लगने से मनुष्य क्रमशः भगवान् के नित्य धाम में प्रवेश कर सकता है।

कभी-कभी मृगतृष्णा तथा अन्य भ्रमपूर्ण वस्तुओं को गन्धर्व कहा जाता है। हमारी जीवन अवधि (आयु) की क्षति को हमारी बढ़ती आयु कहा जाता है; इस प्रकार जीवन के दिनों का बिना देखे अप्रत्यक्ष रूप से व्यतीत होना आलंकारिक ढंग से गन्धर्व के रूप में वर्णित है। जैसाकि अगले श्लोकों में बताया जायेगा, ये गन्धर्व स्त्री तथा पुरुष दोनों होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि स्त्री तथा पुरुष दोनों ही अदृश्य रूप से कालवश अपनी आयु खोते हैं जिसे यहाँ पर चण्डवेग के रूप में वर्णित किया गया है।

गन्धर्व्यस्तादृशीरस्य मैथुन्यश्च सितासिताः ।

परिवृत्त्या विलुम्पन्ति सर्वकामविनिर्मिताम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

गन्धर्व्यः—गन्धर्विनियाँ; तादृशीः—उसी प्रकार; अस्य—चण्डवेग की; मैथुन्यः—मिथुन की संगिनी; च—भी; सित—श्वेत; असिताः—श्याम; परिवृत्त्या—घेरे हुए; विलुम्पन्ति—लूटती हैं; सर्व—काम—सभी प्रकार की इच्छित वस्तुएँ; विनिर्मिताम्—बनी हुई।

चण्डवेग के साथ-साथ गन्धर्विनियों की संख्या सैनिकों के ही समान थी और वे बारम्बार इन्द्रियसुख की सारी सामग्री लूट रही थीं।

तात्पर्य : दिनों की तुलना चण्डवेग के सैनिकों से की गई है। सामान्यतः रात्रि विषयसुख का समय होता है। दिन श्वेत माने जाते हैं और रात्रियाँ श्याम, या दूसरी दृष्टि से रात्रियाँ दो प्रकार की होती हैं—श्याम तथा श्वेत। ये दिन तथा रातें मिलकर दोनों हमारी आयु को तथा हम जो कुछ इन्द्रिय तृप्ति के लिए बनाते हैं, उसे क्षीण करते हैं। भौतिक कर्म का अर्थ है इन्द्रियतृप्ति के लिए वस्तुओं का निर्माण। विज्ञानी शोध में रत हैं कि हम अपनी इन्द्रियों की तुष्टि किस प्रकार अधिक से अधिक कर सकते हैं। इस कलियुग में इन्द्रियतृप्ति की क्रिया को सुविधाजनक बनाने के लिए नाना प्रकार के यंत्र

बनाये जा रहे हैं। विभिन्न घरेलू कार्यों के लिए अनेक यंत्र बन चुके हैं—यथा आजकल बर्तन धोने, फर्श साफ करने, दाढ़ी बनाने, बाल बनाने, इन सबके लिए मशीनें हैं। इन्द्रियतृप्ति की ये सारी सुविधाएँ इस श्लोक में *सर्व-काम-विनिर्मिताम्* के रूप में वर्णित हैं। किन्तु काल इतना प्रबल है कि न केवल हमारी आयु क्षीण होती जाती है, वरन् इन्द्रियतृप्ति की सारी मशीनें तथा सुविधाएँ भी क्षीण होती जाती हैं। इसीलिए इस श्लोक में *विलुम्पन्ति* (लुट रहे हैं) शब्द का प्रयोग हुआ है। हमारे जीवन के प्रारम्भ से ही हर वस्तु लूटी जा रही है।

हमारी वस्तुओं तथा हमारी आयु की यह लूट हमारे जन्म लेने के दिन से ही चालू है। एक दिन आयेगा जब मृत्यु सबका सफाया कर देगी और जीव को जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ करने के लिए नये शरीर में प्रवेश करना होगा और भौतिक भोग के इस चक्र को फिर से युद्ध करना होगा। प्रह्लाद महाराज इस क्रिया को *पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्* (भागवत ७.५.३०) कहते हैं। भौतिक जीवन का अर्थ ही चर्वितचर्वण होता है। भौतिक जीवन का केन्द्र-बिन्दु इन्द्रियतृप्ति है। विभिन्न शरीरों में जीव विविध इन्द्रियों का भोग करता है और विभिन्न सुविधाएँ जुटा कर वह चर्वितचर्वण करता है। चाहे हम गन्ने को अपने दाँतों से चूसें या मशीन से, बात एक ही है—गन्ने का रस मिलता है। हम गन्ने से रस निकालने की अनेक युक्तियाँ निकाल सकते हैं, किन्तु परिणाम वही रहता है।

ते चण्डवेगानुचराः पुरञ्जनपुरं यदा ।
हर्तुमारेभिरे तत्र प्रत्यषेधत्प्रजागरः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ते—वे सब; चण्डवेग—चण्डवेग के; अनुचराः—सेवक; पुरञ्जन—राजा पुरञ्जन की; पुरम्—पुरी, शहर को; यदा—जब; हर्तुम्—लूटना; आरेभिरे—प्रारम्भ किया; तत्र—वहाँ; प्रत्यषेधत्—रक्षा किया; प्रजागरः—बड़े सर्प ने।

जब राजा गन्धर्वराज (चण्डवेग) तथा उसके सेवक पुरञ्जन की नगरी को लूटने लगे तो पाँच फनों वाले एक सर्प ने नगरी की रखवाली करनी शुरू कर दी।

तात्पर्य : जब मनुष्य सोता है, तो विभिन्न स्वप्नों में प्राण सक्रिय रहता है। सर्प के पाँच फन सूचित करते हैं कि प्राण पाँच प्रकार की वायुओं से घिरा है—प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान। जब शरीर निष्क्रिय होता है, तो प्राण सक्रिय रहता है। पचास वर्ष की आयु तक मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के लिए क्रियाशील रहता है, किन्तु इसके बाद शक्ति घटने लगती है, यद्यपि अधिक बल लगाकर वह दो या

तीन वर्ष और—अधिक से अधिक पचपन वर्ष तक—कार्य कर सकता है। इसीलिए सरकारी नियमों में अवकाश प्राप्त करने की आयु पचपन वर्ष ही है। पचास वर्ष के बाद शक्ति जिस प्रकार क्षीण होती है उसे आलंकारिक रूप से यहाँ पर पाँच फन वाले सर्प के रूप में दिखाया गया है।

स सप्तभिः शतैरेको विंशत्या च शतं समाः ।

पुरञ्जनपुराध्यक्षो गन्धर्वैर्युधे बली ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; सप्तभिः—सात; शतैः—सौ से; एकः—अकेले; विंशत्या—बीस सहित; च—भी; शतम्—सौ; समाः—वर्ष; पुरञ्जन—राजा पुरञ्जन का; पुर-अध्यक्षः—नगर की रखवाली करने वाला; गन्धर्वैः—गन्धर्वों से; युधे—युद्ध किया; बली—अत्यन्त वीर।

वह पाँच फनों वाला सर्प, जो राजा पुरञ्जन की पुरी का रक्षक था, गन्धर्वों से एक सौ वर्षों तक लड़ता रहा। वह उनसे अकेला ही लड़ा यद्यपि उनकी संख्या ७२० थी।

तात्पर्य : ३६० दिन तथा ३६० रातें मिलकर चण्डवेग (काल) के ७२० सैनिक हैं। मनुष्य को इन सैनिकों से जन्म के प्रारम्भ के लेकर मृत्यु पर्यन्त लड़ना पड़ता है। यह जीवन-संघर्ष कहलाता है। इतने संघर्ष के बाद भी जीवात्मा मरता नहीं। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.२०) में पुष्टि की गई है यह जीवात्मा शाश्वत है—

न जायते म्रियते वा कदाचि-

त्रायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

“आत्मा के लिए न तो कभी जन्म है न कभी मृत्यु। एक बार जन्म लेकर वह कभी मरता नहीं। वह अजन्मा, शाश्वत, न मरने वाला तथा पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर उसका वध नहीं होता।” वास्तव में जीवात्मा न तो जन्म लेता है, न मरता है, किन्तु उसे जीवन-भर प्रकृति के कठोर नियमों से संघर्ष करना पड़ता है। उसे अनेक कष्ट भी उठाने पड़ते हैं। इतना होते हुए भी जीवात्मा मोहवश सोचता है कि इन्द्रियतृप्ति के लिए वह ठीक से रह रहा है।

क्षीयमाणे स्वसम्बन्धे एकस्मिन्बहुभिर्युधा ।

चिन्तां परां जगामार्तः सराष्ट्रपुरबान्धवः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

क्षीयमाणे—कमजोर पड़ने पर; स्व-सम्बन्धे—उसके अभिन्न मित्र; एकस्मिन्—अकेला; बहुभिः—अनेक वीरों के साथ; युधा—युद्ध द्वारा; चिन्ताम्—चिन्ता; पराम्—अत्यधिक, परम; जगाम—प्राप्त किया; आर्तः—दुखी होकर; स—सहित; राष्ट्र—राज्य के; पुर—नगरी के; बान्धवः—मित्र तथा सम्बन्धी।

चूँकि उसे अकेले इतने सैनिकों से लड़ना था, जो सारे के सारे महावीर थे, अतः पाँच फनों वाला सर्प क्षीण पड़ने लगा। यह देखकर कि उसका अभिन्न मित्र क्षीण पड़ रहा है, राजा पुरञ्जन तथा उस नगरी में रहने वाले उसके सारे मित्र तथा नागरिक अत्यन्त चिन्तित हो उठे।

तात्पर्य : जीव तो शरीर के भीतर निवास करता है और शरीर के अंगों से अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करता है, जिन्हें यहाँ पर नागरिक तथा मित्र की संज्ञा प्रदान की गई है। कोई मनुष्य अनेक सैनिकों से अकेला कुछ काल तक लड़ता रह सकता है, किन्तु सदा के लिए नहीं। शरीर के भीतर जीव सौ वर्षों तक सही ढंग से लड़ता रह सकता है, किन्तु इसके बाद नहीं। इसके बाद जीव घुटने टेक देता है। इस प्रसंग में श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का गीत दृष्टव्य है—*वृद्ध काल आओल सब सुख भागल*। जब मनुष्य बूढ़ा हो जाता है, तो भौतिक सुख भोग पाना कठिन हो जाता है। सामान्यतः लोग सोचते हैं कि धर्म तथा धर्मनिष्ठा जीवन के अन्त समय आते हैं और उस समय लोग अधिक ध्यानमग्न रहने लगते हैं तथा ध्यान के नाम पर यौगिक अभ्यास करते हैं। किन्तु जिन लोगों ने इन्द्रियतृप्ति में जीवन बिताया है उनके लिए ध्यान बहकावा है। जैसाकि *भगवद्गीता* के छठे अध्याय में कहा गया है कि ध्यान (धारणा) कठिन होता है और इसे युवावस्था से सीखना होता है। ध्यान धरने के लिए आवश्यक है कि सभी प्रकार की इन्द्रियतृप्ति से विमुक्त रहा जाय। दुर्भाग्यवश ध्यान उन लोगों के लिए फैशन बन गया हो जो विषय-वासनाओं में अत्यधिक लिप्त रहते हैं। जीवन के लिए संघर्ष करते रहने से ऐसे ध्यान का कोई अर्थ नहीं रह जाता। कभी-कभी ऐसी ध्यान विधियाँ आध्यात्मिक ध्यान के लिए होती हैं। जीव रूपी राजा पुरञ्जन ने, जीवन-संघर्ष से ऊब कर अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों सहित दिव्य ध्यान की शरण ली।

स एव पुर्या मधुभुक्पञ्चालेषु स्वपार्षदैः ।

उपनीतं बलिं गृह्णन्त्रीजितो नाविदद्भयम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एव—निश्चय ही; पुर्याम्—नगरी के भीतर; मधु-भुक्—विषयी जीवन भोगते हुए; पञ्चालेषु—अपने राज्य पञ्चाल में (पाँच विषय); स्व-पार्षदैः—अपने पार्षदों सहित; उपनीतम्—लाया जाकर; बलिम्—कर; गृह्णन्—स्वीकार करके; स्त्री-जितः—स्त्रियों के वश में हुआ; न—नहीं; अविदत्—समझ सका; भयम्—मृत्यु भय को।

राजा पुरञ्जन पञ्चाल नामक नगरी से कर एकत्र करता और विषय-भोग में लगा रहता। स्त्रियों के पूरी तरह वश में होने से वह समझ ही नहीं पाया कि उसका जीवन बीता जा रहा है और वह मृत्यु के निकट पहुँच रहा है।

तात्पर्य : सरकारी व्यक्ति जिनमें राजा, राष्ट्रपति, सचिव तथा मंत्री सम्मिलित हैं, संचित किये जाने वाले कर का उपयोग अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए कर सकते हैं। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि कलियुग में राज्य के सारे कर्मचारी (राजन्य) तथा वे जो सरकार से सम्बन्धित हैं और उच्चमंत्री, सचिव तथा राष्ट्रपति केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए कर एकत्र करेंगे। सरकार का खर्च अधिक होता है और कर में वृद्धि किये बिना सरकारें चल नहीं सकतीं। जब कर एकत्र हो जाता है, तो उसका उपयोग सरकारी अफसरों की इन्द्रियतृप्ति के लिए होता है। ऐसे गैरजिम्मेदार अफसर यह भूल जाते हैं कि एक समय ऐसा आयेगा जब मृत्यु आकर उनके सारे इन्द्रियसुख को अपने साथ लेती जायेगी। कुछ लोगों का विश्वास है कि जीवन के पश्चात् सब कुछ नष्ट हो जाता है। यह नास्तिकता का सिद्धान्त बहुत समय पूर्व चार्वाक नामक दार्शनिक ने चलाया था। उसने कहा था कि मनुष्य को चाहिए कि माँग कर, उधार लेकर अथवा चुराकर ठाठ से रहे। उसने यह भी कहा था कि मनुष्य को मृत्यु, अगले जीवन, विगत जीवन या अपवित्र जीवन से भयभीत नहीं होना चाहिए, क्योंकि शरीर के जल जाने पर सब कुछ समाप्त हो जाता है। यह दर्शन उन लोगों का है, जो भौतिकता में लिस रहने के अत्यधिक आदी हैं। ऐसे दार्शनिक विचारों से कोई न तो मृत्यु के भय से बच सकता है और न अगले घृणित जन्म से बचा रह पाता है।

कालस्य दुहिता काचित्त्रिलोकीं वरमिच्छती ।

पर्यटन्ती न बर्हिष्मन्प्रत्यनन्दत कश्चन ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

कालस्य—काल की; दुहिता—कन्या, पुत्री; काचित्—कोई; त्रि-लोकीम्—तीनों लोकों में; वरम्—पति; इच्छती—की आंकाक्षा से; पर्यटन्ती—सारे संसार में घूमती हुई; न—कभी नहीं; बर्हिष्मन्—हे राजा प्राचीनबर्हिषत्; प्रत्यनन्दत—प्रस्ताव स्वीकार कर लिया; कश्चन—कोई।

हे राजा प्राचीनबर्हिषत्, इसी समय काल की कन्या तीनों लोकों में पति की खोज कर रही

थी। यद्यपि उसे ग्रहण करने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ, किन्तु वह घूमती रही।

तात्पर्य : समय बीतने पर जब शरीर वृद्ध हो जाता है, तो एक प्रकार से अक्षम हो जाता है और जरा या बुढ़ापा घेर लेता है। इस संसार में मूलतः चार प्रकार के कष्ट हैं—जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु। न तो कोई विज्ञान, न ही कोई विचारक इन चारों प्रकार के कष्टों का कोई हल प्रस्तुत कर पाया है। यहाँ पर जरा की अक्षमता को आलंकारिक ढंग से काल की कन्या के रूप में व्यक्त किया गया है। यद्यपि उसे कोई नहीं चाहता, किन्तु वह किसी को भी अपना पति बनाने के लिए उत्सुक रहती है। कोई भी वृद्ध तथा अक्षम नहीं बनना चाहता, किन्तु यह सबों के लिए अनिवार्य है।

दौर्भाग्येनात्मनो लोके विश्रुता दुर्भगेति सा ।

या तुष्टा राजर्षये तु वृतादात्पूरवे वरम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दौर्भाग्येन—दुर्भाग्य से; आत्मनः—अपने आप; लोके—संसार में; विश्रुता—विख्यात; दुर्भगा—अत्यन्त भाग्यहीन; इति—इस प्रकार; सा—वह; या—जो; तुष्टा—सन्तुष्ट होकर; राज-ऋषये—महान् राजा को; तु—लेकिन; वृता—स्वीकार होकर; अदात्—दे दिया; पूरवे—राजा पूरु को; वरम्—वर।

काल की कन्या (जरा) बड़ी अभागिन थी। फलतः लोग उसे दुर्भगा कहते थे। किन्तु एक बार वह एक महान् राजा पर प्रसन्न हो गई और चूँकि राजा ने उसे स्वीकार कर लिया था, इसलिए उसने उसे वरदान दिया।

तात्पर्य : जैसाकि भक्ति विनोद ठाकुर गाते हैं—*सब सुख भागल*—बुढ़ापे में सारे सुख लुप्त हो जाते हैं, इसीलिए कोई जरा (बुढ़ापा) को पसन्द नहीं करता। काल की कन्या के रूप में जरा को अत्यन्त हतभाग्या कहा जाता है। किन्तु एक बार राजा ययाति ने इसे स्वीकार किया था। ययाति के श्वसुर शुक्राचार्य ने शाप दिया था कि वह उसे स्वीकार करे। जब शुक्राचार्य की कन्या राजा ययाति को ब्याही गई तो उसके साथ शर्मिष्ठा नामक उसकी सहेली भी उसके साथ गई। बाद में राजा ययाति शर्मिष्ठा पर अत्यधिक आसक्त हो गये तो शुक्राचार्य की कन्या ने अपने पिता से शिकायत की। फलतः शुक्राचार्य ने राजा ययाति को समय से पूर्व वृद्ध होने का शाप दे दिया। राजा ययाति के पाँच तरुण पुत्र थे और उसने अपने पाँचों पुत्रों से बुढ़ापे के बदले अपना यौवन देने की विनती की। केवल सबसे छोटा पुत्र पुरु इसके लिए राजी हुआ। ययाति का बुढ़ापा स्वीकार करने पर उसे सारा राजपाट मिल गया। कहा जाता है कि ययाति के दो अन्य पुत्रों को, जो आज्ञाकारी नहीं थे, भारत के बाहर, सम्भवतः

तुर्की तथा ग्रीस के राज्य दिये गये। तात्पर्य यह कि मनुष्य सभी प्रकार की सम्पत्ति तथा वैभव एकत्र कर सकता है, किन्तु बुढ़ापे में कोई उसका भोग नहीं कर पाता। यद्यपि पुरु को अपने पिता का सारा राज्य प्राप्त हुआ था, किन्तु वह सारे वैभव का उपभोग नहीं कर पाया, क्योंकि उसने अपने यौवन को अर्पित कर दिया था। मनुष्य को कृष्णभक्त बनने के लिए बुढ़ापे की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। बुढ़ापे की अशक्तता के कारण, कोई कितना भी धनवान क्यों न हो, कृष्णभक्ति में प्रगति नहीं कर पाता।

कदाचिदटमाना सा ब्रह्मलोकान्महीं गतम् ।

वद्रे बृहद्ब्रतं मां तु जानती काममोहिता ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कदाचित्—एक बार; अटमाना—घूमती हुई; सा—वह; ब्रह्म-लोकात्—ब्रह्मलोक से; महीम्—पृथ्वी पर; गतम्—आ कर; वद्रे—प्रस्ताव रखा; बृहत्-ब्रतम्—नैष्ठिक ब्रह्मचारी; माम्—मुझको; तु—तब; जानती—जानते हुए; काम-मोहिता—कामासक्त।

एक बार जब मैं सर्वोच्च लोक, ब्रह्मलोक से इस पृथ्वी पर आ रहा था, तो संसार भर का भ्रमण करते हुए काल की कन्या से मेरी भेंट हुई। वह मुझे नैष्ठिक ब्रह्मचारी जान कर मुझपर अत्यन्त कामातुर हो गई और उसने प्रस्ताव रखा कि मैं उसे अपना लूँ।

तात्पर्य : नारद मुनि नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे अर्थात् वे विषयी जीवन से आजीवन विमुक्त रहे। फलतः वे परम तरुण थे। उन पर जरा का कोई प्रभाव न था। बुढ़ापे (जरा) की अशक्तता सामान्य मनुष्य को व्याप सकती है, किन्तु नारद मुनि तो सर्वथा भिन्न थे। तो भी नारद मुनि को सामान्य व्यक्ति समझ कर काल-कन्या ने उनके सामने अपनी कामेच्छा व्यक्त की। स्त्री के आकर्षण से विरत होने के लिए अगाध शक्ति की आवश्यकता होती है। बूढ़े लोगों के लिए भी ऐसा कर पाना कठिन हो तो युवकों के लिए क्या कहा जाये! जो लोग ब्रह्मचारी के रूप में रहते हैं उन्हें नारद मुनि के चरणचिह्नों पर चलना चाहिए, जिन्होंने जरा के प्रस्ताव को कभी भी स्वीकार नहीं किया। जो लोग कामवासना के प्रति अत्यन्त लिलायित रहते हैं, वे जरा के शिकार बनते हैं और शीघ्र ही उनकी आयु क्षीण हो जाती है। जो मनुष्य जीवन का उपयोग कृष्णभक्ति के लिए नहीं कर पाते वे जरा के शिकार होकर इस संसार में बहुत जल्दी मर जाते हैं।

मयि संरभ्य विपुलमदाच्छापं सुदुःसहम् ।

स्थातुमर्हसि नैकत्र मद्याच्चाविमुखो मुने ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मयि—मुझको; संरभ्य—क्रुद्ध होकर; विपुल—अपार; मदात्—मोहवश; शापम्—शाप; सु-दुःसहम्—असहनीय; स्थातुम् अर्हसि—रुकना चाहोगे; न—कभी नहीं; एकत्र—एक स्थान में; मत्—मेरी; याच्चा—याचना; विमुखः—नकार कर; मुने—हे मुनि।

महर्षि नारद ने आगे कहा : जब मैंने उसकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी तो वह मुझपर अत्यन्त क्रुद्ध हुई और मुझे घोर शाप देने लगी। चूँकि मैंने उसकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी थी, अतः उसने कहा कि तुम किसी एक स्थान पर अधिक काल तक टिक नहीं सकोगे।

तात्पर्य : नारद मुनि को दिव्य देह प्राप्त थी; अतः उन पर जरा, रोग, जन्म तथा मृत्यु का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था। नारद भगवान् के सर्वाधिक दयावान् भक्त हैं और उनका एकमात्र कार्य है सारे ब्रह्माण्ड में विचरण करना तथा भगवद्भक्ति का उपदेश करना। दूसरे शब्दों में, उनका एकमात्र कार्य हर एक को वैष्णव बनाना है। अतः उन्हें किसी भी स्थान पर उपदेश देने के बाद रुकने की आवश्यकता नहीं होती है। चूँकि वे अपने इच्छानुसार पहले से सारे विश्व का विचरण करते रहते हैं, इसलिए काल-कन्या का शाप सौभाग्यपूर्ण बताया गया है। नारद मुनि के ही समान अन्य अनेक भक्त विविध ब्रह्माण्डों में भिन्न-भिन्न स्थानों में भगवान् की महिमा का उपदेश करने में लगे हुए हैं। ऐसे महापुरुषों पर भौतिक नियम लागू नहीं होते।

ततो विहतसङ्कल्पा कन्यका यवनेश्वरम् ।

मयोपदिष्टमासाद्य वव्रे नाम्ना भयं पतिम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; विहत-सङ्कल्पा—निराश होकर; कन्यका—काल की कन्या; यवन-ईश्वरम्—अछूतों के राजा को; मया उपदिष्टम्—मेरे द्वारा सूचित; आसाद्य—पास आकर; वव्रे—स्वीकार कर लिया; नाम्ना—नामक; भयम्—भय; पतिम्—पति रूप में।

इस प्रकार जब वह मेरी ओर से निराश हो गई तो मेरी अनुमति से वह यवनों के राजा के पास गई जिसका नाम भय था और उसे ही अपने पति रूप में स्वीकार कर लिया।

तात्पर्य : परम वैष्णव होने के कारण श्री नारद मुनि अन्यो का हित करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं, भले ही कोई उन्हें शाप ही क्यों न दे रहा हो। यद्यपि काल-कन्या को नारद मुनि ने मना कर दिया था, किन्तु उसे शरण प्रदान की गई। एक वैष्णव के अतिरिक्त ऐसी हतभाग्या कन्या को भला और कौन शरण दे सकता है! जब जरा का आक्रमण होता है, तो हर व्यक्ति क्षुद्र बनकर समाप्त होने लगता

है। नारद मुनि ने काल-कन्या को शरण दी और सामान्य कर्मियों पर करारा प्रहार किया। यदि कोई नारद मुनि के उपदेशों को मानता है, तो उनकी कृपा से भय का सागर हट जाता है।

ऋषभं यवनानां त्वां वृणे वीरेप्सितं पतिम् ।
सङ्कल्पस्त्वयि भूतानां कृतः किल न रिष्यति ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ऋषभम्—श्रेष्ठ; यवनानाम्—अछूतों में; त्वाम्—तुमको; वृणे—मैं स्वीकार करती हूँ; वीर—हे वीर; इप्सितम्—वांछित; पतिम्—पति; सङ्कल्पः—दृढ़ निश्चय; त्वयि—तुमको; भूतानाम्—समस्त जीवों का; कृतः—यदि किया गया; किल—निश्चय ही; न—कभी नहीं; रिष्यति—विफल नहीं होता।

यवनों के राजा के पास पहुँचकर काल-कन्या ने उसे वीर रूप में सम्बोधित करते हुए कहा : महाशय, आप अछूतों में श्रेष्ठ हैं। मैं आपको प्रेम करती हूँ और आपको पति रूप में ग्रहण करना चाहती हूँ। मैं जानती हूँ कि यदि कोई आपसे दोस्ती करता है, तो वह निराश नहीं होता।

तात्पर्य : यवनानाम् ऋषभ शब्द यवनों के राजा के सूचक हैं। यवन तथा म्लेच्छ शब्द उन लोगों के लिए प्रयुक्त होते हैं, जो वैदिक नियमों को नहीं मानते। वैदिक नियमों के अनुसार मनुष्य को प्रातः-काल उठकर स्नान करना चाहिए, हरे कृष्ण का जाप करना चाहिए, अर्चा-विग्रह की मंगल-आरती करनी चाहिए, वैदिक साहित्य पढ़ना चाहिए, प्रसाद ग्रहण करना चाहिए और अर्चा-विग्रह का साज-शृंगार करने में लग जाना चाहिए। मनुष्य को मंदिर बनाने के लिए भी धन संग्रह करना चाहिए और यदि वह गृहस्थ है, तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र के निर्दिष्ट कार्य करने चाहिए। इस प्रकार उसे आध्यात्मिक सूझबूझ का जीवन बिताना चाहिए, यही वैदिक सभ्यता है। जो इन सारे नियमों का पालन नहीं करता, वही यवन या म्लेच्छ कहलाता है। हमें इन शब्दों से किन्हीं अन्य देशों की जातियाँ नहीं समझना चाहिए। इनके लिए राष्ट्रीयता कोई सीमा नहीं है—कोई भारत में रहे या बाहर, यदि वह वैदिक नियमों का पालन नहीं करता तो वह म्लेच्छ या यवन कहलाता है। जो मनुष्य वैदिक नियमों में बताये गये स्वच्छता सम्बन्धी नियमों का पालन नहीं करता उसे अनेक छुआछूत के रोग होते रहते हैं। चूँकि कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में विद्यार्थियों को वैदिक नियम पालन करने की सलाह दी जाती है, इसलिए वे स्वभावतः स्वच्छ रहते हैं।

यदि कोई मनुष्य कृष्णभक्त है, तो वह सत्तर-अस्सी वर्ष का होकर भी तरुण की भाँति कार्य कर सकता है। इस प्रकार काल-कन्या किसी वैष्णव को परास्त नहीं कर सकती। श्रील कृष्णदास

कविराजगोस्वामी जब बहुत बूढ़े हो गये तो उन्होंने श्रीचैतन्य-चरितामृत लिखना प्रारम्भ किया, फिर भी उन्होंने भगवान् चैतन्य की लीलाओं के सम्बन्ध में सबसे अधिक आश्चर्यजनक साहित्य प्रस्तुत किया। श्रील रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी ने भी अपने आध्यात्मिक जीवन का शुभारम्भ अत्यन्त वृद्धावस्था में किया अर्थात् जब वे अपने वृत्तिपरक कार्य और पारिवारिक जीवन से मुक्त हो चुके थे, फिर भी उन्होंने आध्यात्मिक जीवन की उन्नति के लिए प्रचुर मूल्यवान साहित्य का सृजन किया। इसकी पुष्टि श्रील श्रीनिवास आचार्य द्वारा गोस्वामियों की प्रशंसा से होती है—

नानाशास्त्रविचारणैकनिपुणौ सद्धर्मसंस्थापकौ

लोकानां हितकारिणौ त्रिभुवने मान्यौ शरण्याकरौ।

राधाकृष्णपदारविन्दभजनानन्देन मत्तालिकौ

वन्दे रूपसनातनौ रघुयुगौ श्रीजीवगोपलकौ ॥

“मैं छहों गोस्वामियों—श्री सनातन गोस्वामी, श्री रूप गोस्वामी, श्री रघुनाथ भट्ट गोस्वामी, श्री रघुनाथ दास गोस्वामी, श्री जीव गोस्वामी तथा श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी को सादर नमस्कार करता हूँ जो मानवता के कल्याण हेतु शाश्वत धार्मिक नियमों की स्थापना के उद्देश्य से शास्त्रों की छानबीन करते रहते हैं। इस प्रकार उनका तीनों लोकों में सम्मान है और वे शरण लेने योग्य हैं, क्योंकि वे गोपियों के भाव में लीन रहते हैं और राधाकृष्ण की दिव्य सेवा में लगे रहते हैं।”

जरा भक्त को कष्ट नहीं देती, क्योंकि भक्त नारद मुनि के आदेशों तथा संकल्प का अनुसरण करता है। सभी भक्त नारद मुनि की शिष्य-परम्परा में आते हैं, क्योंकि वे नारद के आदेशों के अनुसार—यथा नारद पञ्चरात्र अथवा पाञ्चरात्रिका विधि के अनुसार अर्चा-विग्रह की पूजा करते हैं। भक्त पाञ्चरात्रिका-विधि के साथ भागवत-विधि के भी नियमों का पालन करता है। भागवत-विधि में उपदेश कार्य भी सम्मिलित है—श्रवणं कीर्तनं विष्णोः। पाञ्चरात्रिका विधि में, अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनं सम्मिलित हैं। चूँकि भक्त नारद मुनि के आदेशों का पालन करता है, इसलिए उसे जरा, रोग या मृत्यु का भय नहीं रहता। वह देखने में भले ही वृद्ध लगे, किन्तु वह सामान्य व्यक्ति की भाँति बुढ़ापे से हार नहीं मानता। फलस्वरूप बुढ़ापा भक्त को मृत्यु से भयभीत नहीं बनाता जितना कि सामान्य व्यक्ति मृत्यु से भयभीत रहता है। जब जरा किसी भक्त की शरण ग्रहण करती है, तो काल-कन्या भक्त के भय को

कम कर देती है। भक्त जानता रहता है कि मृत्यु के बाद उसे भगवान् के धाम वापस जाना है, अतः उसे मृत्यु का भय नहीं रहता। इस प्रकार अधिक उम्र (बुढ़ापा) भक्त को हतोत्साहित न करके उसे निडर बनाती है, जिससे वह सुखी रहता है।

द्वाविमावनुशोचन्ति बालावसदवग्रहौ ।

यल्लोकशास्त्रोपनतं न राति न तदिच्छति ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

द्वौ—दो प्रकार के; इमौ—ये; अनुशोचन्ति—पश्चात्ताप करते हैं; बालौ—अज्ञानी; असत्—मूर्ख; अवग्रहौ—पथ का अनुसरण करते हुए; यत्—जो; लोक—प्रथानुसार; शास्त्र—शास्त्रों के अनुसार; उपनतम्—प्रस्तुत; न—कभी नहीं; राति—पालन करता है; न—कभी नहीं; तत्—वह; इच्छति—इच्छा करता है।

जो लोकीति के अनुसार अथवा शास्त्रों के आदेशानुसार दान नहीं देता और जो इस प्रकार के दान का ग्रहण नहीं करता, उन दोनों को ही तमोगुणी समझना चाहिए। ऐसे लोग मूर्खों के पथ का अनुसरण करते हैं। निश्चित ही उन्हें अन्त में पछताना पड़ता है।

तात्पर्य : यहाँ इसका उल्लेख है कि यदि कोई वास्तव में शुभ जीवन बिताना चाहता है, तो उसे शास्त्रों का पालन करना चाहिए। भगवद्गीता (१६.२३) में इसी को इस प्रकार कहा गया है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

“जो मनुष्य शास्त्रों के आदेशों का उल्लंघन करके मनमाने ढंग से आचरण करता है उसे न तो सिद्धि मिलती है, न सुख और न परम धाम।” जो वैदिक आदेशों का कठोरता से पालन नहीं करता उसे जीवन में सफलता या सुख की प्राप्ति नहीं हो पाती, भगवान् के धाम वापस जाना तो कोसों दूर की बात है।

एक शास्त्रीय आदेश बताता है कि यदि कोई स्त्री स्वेच्छा से पत्नी बनने का अनुरोध करे तो गृहस्थ, क्षत्रिय या शासक को उसके अनुरोध को ठुकराना नहीं चाहिए। चूँकि नारद मुनि ने काल-कन्या को यवन राजा के प्रति समर्पित होने के लिए निर्दिष्ट किया था, इसलिए यवनराज उसे इनकार नहीं कर सका। सभी कार्यकलाप शास्त्रों के आदेशों के अनुसार सम्पन्न किये जाने चाहिए। शास्त्रीय आदेशों की नारद मुनि जैसे ऋषियों द्वारा पुष्टि की गई है। जैसाकि नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं— साधु शास्त्र गुरु वाक्य, चित्तेते करिया ऐक्य। मनुष्य को चाहिए कि साधु पुरुषों, शास्त्रों तथा गुरु के नियमों

पर चले। इस प्रकार जीवन में सफलता अवश्य मिलती है। कालकन्या यवनराज के समक्ष साधु, शास्त्र तथा गुरुसम्मत विधि से ही उपस्थित हुई थी। अतः उसे अस्वीकार किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

अथो भजस्व मां भद्र भजन्तीं मे दयां कुरु ।
एतावान्यौरुषो धर्मो यदार्ताननुकम्पते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अथो—अतः; भजस्व—स्वीकार करो; माम्—मुझको; भद्र—हे महाशय; भजन्तीम्—सेवा करने के लिए इच्छुक; मे—मुझको; दयाम्—दया; कुरु—करो; एतावान्—इस तरह के; पौरुषः—किसी पुरुष के लिए; धर्मः—धर्म; यत्—वह; आर्तान्—आर्त को; अनुकम्पते—दयालु है।

काल कन्या ने आगे कहा : हे भद्र, मैं आपकी सेवा के लिए उपस्थित हूँ। कृपया मुझे स्वीकार करके मेरे ऊपर दया करें। पुरुष का सबसे बड़ा कर्तव्य है कि दुखी व्यक्ति पर अनुकम्पा करे।

तात्पर्य : यवनराज चाहता तो काल-कन्या को अस्वीकार कर देता, किन्तु उसने उसकी प्रार्थना पर विचार किया, क्योंकि यह नारद मुनि का आदेश था। इस तरह उसने काल-कन्या को भिन्न रूप में स्वीकार कर लिया। दूसरे शब्दों में, नारद मुनि के आदेश या भक्ति-पथ तीनों लोकों में प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा मान्य है और यवनराज के लिए तो विशेष रूप से। स्वयं भगवान् चैतन्य ने हर एक से संसार के प्रत्येक कोने-कोने में प्रत्येक ग्राम तथा नगर में, भक्तियोग सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए कहा। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के उपदेशकों ने सचमुच अनुभव किया है कि नारद मुनि की पाञ्चरात्रिका विधि के बल पर यवनों तथा म्लेच्छों तक ने आध्यात्मिक जीवन स्वीकार किया है। जब मानव जाति चैतन्य महाप्रभु द्वारा बताई गई शिष्य-परम्परा का पालन करेगी तो संसार भर के लोग इससे लाभान्वित होंगे।

कालकन्योदितवचो निशम्य यवनेश्वरः ।
चिकीर्षुर्देवगुह्यं स सस्मितं तामभाषत ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

काल-कन्या—काल की पुत्री द्वारा; उदित—कहे गये; वचः—शब्द; निशम्य—सुनकर; यवन-ईश्वरः—यवनों का राजा; चिकीर्षुः—पालन करने की इच्छा से; देव—विधाता का; गुह्यम्—गुप्त कार्य; सः—उसने; स-स्मितम्—हँसते हुए; ताम्—उसको; अभाषत—सम्बोधित किया।

कालकन्या का कथन सुनकर यवनराज हँसने लगा और विधाता का गुप्त कार्य पूरा करने की युक्ति खोजने लगा। तब उसने काल-कन्या को इस प्रकार सम्बोधित किया।

तात्पर्य : श्रीचैतन्य-चरितामृत (आदि ५.१४२) में कहा गया है—

एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य।

यारे येछे नाचाय, से तैछे करे नृत्य ॥

वास्तव में परम नियन्ता तो भगवान् श्रीकृष्ण हैं, शेष सभी उनके दास हैं। यवनराज भी श्रीकृष्ण का दास था, अतः वह भी कालकन्या के माध्यम से श्रीकृष्ण का ही कार्य करना चाह रहा था। यद्यपि कालकन्या का अर्थ जरा या बुढ़ापा है, किन्तु यवनराज कालकन्या को सर्वत्र प्रवेश करा कर कृष्ण की सेवा करना चाह रहा था। इस प्रकार जो भी विवेकी पुरुष है, वह बुढ़ापा प्राप्त करने पर काल (मृत्यु) से भयभीत रहेगा। मूर्ख लोग भौतिक कार्यों में इस प्रकार लिप्त रहते हैं मानो वे सदैव जीवित रहेंगे और भौतिक सुख का भोग करेंगे, किन्तु वास्तव में भौतिकता में उन्नति है ही नहीं। मोहवश लोग सोचते हैं कि ऐश्वर्य उनकी रक्षा करेगा, किन्तु भौतिक विज्ञान में काफी प्रगति होने पर भी मानव समाज की समस्याएँ—जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग—जैसी की तैसी बनी हुई हैं। तो भी मूर्ख विज्ञानी सोचते हैं कि उन्होंने भौतिक प्रगति की है। जब कालकन्या अर्थात् बुढ़ापा उन पर आक्रमण करता है, तो वे काल से भयभीत होते हैं यदि वे विवेकी हों। जो अविवेकी हैं, वे मृत्यु की परवाह नहीं करते और न ही इस जीवन में ही यह जानते हैं कि मृत्यु के बाद क्या होने वाला है। उनकी यह भ्रान्त धारण बनी हुई कि मृत्यु के बाद जीवन नहीं है, अतः वे इस जीवन में अत्यन्त गैरजिम्मेदारी से काम करते हैं और निर्बाध होकर विषयसुख भोगते हैं। बुद्धिमान मनुष्य के लिए बुढ़ापे का प्रकट होना आध्यात्मिक जीवन के लिए प्रेरित करता है। आमतौर से लोग आनेवाली मृत्यु से डरते हैं। यवनराज ने कालकन्या का उपयोग इस कार्य के लिए करना चाहा।

मया निरूपितस्तुभ्यं पतिरात्मसमाधिना ।

नाभिनन्दति लोकोऽयं त्वामभद्रामसम्पताम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; निरूपितः—निश्चित किया गया; तुभ्यम्—तुम्हारे लिए; पतिः—पति; आत्म—मन के; समाधिना—ध्यान से; न—कभी नहीं; अभिनन्दति—स्वागत है; लोकः—लोग; अयम्—ये; त्वाम्—तुमको; अभद्राम्—अशुभ; असम्मतम्—अस्वीकार्य।

यवनराज ने उत्तर दिया: मैंने बहुत सोच-विचार के बाद तुम्हारे लिए एक पति निश्चित किया है। वास्तव में सबों की दृष्टि में तुम अशुभ तथा उत्पाती हो। चूँकि तुम्हें कोई भी पसन्द नहीं करता, अतः तुम्हें कोई पत्नी रूप में कैसे स्वीकार कर सकता है?

तात्पर्य : काफी सोच-विचार के बाद यवनराज ने बुरे अवसर का सर्वोत्तम उपयोग करना चाहा। काल-कन्या किसी को पसन्द नहीं थी, किन्तु भगवान् की सेवा के लिए हर वस्तु का उपयोग हो सकता है। इसलिए यवनराज ने उसे किसी-न-किसी काम में लगाना चाहा। इस उद्देश्य को पहले ही बताया जा चुका है—जरा रूप में काल-कन्या सभी लोगों में भय उत्पन्न कर सकती है, जिससे वे डर कर श्रीकृष्ण की भक्ति में लगकर अगले जीवन की तैयारी में लग सकें।

त्वमव्यक्तगतिर्भुङ्क्ष्व लोकं कर्मविनिर्मितम् ।

या हि मे पृतनायुक्ता प्रजानाशं प्रणोष्यसि ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; अव्यक्त-गतिः—जिसकी गति अलक्षित हो; भुङ्क्ष्व—भोग करो; लोकम्—यह संसार; कर्म-विनिर्मितम्—सकाम कर्मों द्वारा निर्मित; या—जो; हि—निश्चय ही; मे—मेरा; पृतना—सैनिक की; युक्ता—सहायता से; प्रजा-नाशम्—जीवों का संहार; प्रणोष्यसि—बिना बाधा के कर सकोगी।

यह संसार सकाम कर्मों का प्रतिफल है। अतः तुम सभी लोगों पर अलक्षित रह कर आक्रमण कर सकती हो। मेरे सैनिकों के बल की सहायता से तुम बिना किसी विरोध के उनका संहार कर सकती हो।

तात्पर्य : कर्म विनिर्मितम् का अर्थ है, “सकाम कर्मों द्वारा निर्मित।” यह समग्र भौतिक जगत, विशेष रूप से आजकल, सकाम कर्मों का प्रतिफल है। प्रत्येक व्यक्ति इस संसार को सड़कों, मोटरों, बिजली, गगनचुम्बी भवनों, उद्योगों, व्यापारों से अलंकृत करने में व्यस्त है। यह उन व्यक्तियों के लिए अत्यन्त सुखद लगता है, जो इन्द्रियतृप्ति में लगे हैं और आध्यात्मिक स्वरूप से अपरिचित हैं।

श्रीमद्भागवत (५.५.४) में वर्णन हुआ है कि—

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म

यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति ।

न साधु मन्ये यत आत्मनोऽय-

मसन्नपि क्लेशद आस देहः ॥

जो आत्मा के ज्ञान से रहित हैं, वे भौतिक कर्मों के पीछे दीवाने रहते हैं और इन्द्रियतृप्ति के लिए पापमय कर्म करते रहते हैं। ऋषभदेव के अनुसार ऐसे कार्य अशुभ हैं, क्योंकि इनसे मनुष्य को अगले जीवन में घृणित देह धारण करनी पड़ती है। यह हम सबका अनुभव है कि शरीर को कितना ही सुखी क्यों न रखा जाये, वह सदैव कष्ट देता रहता है और तीन प्रकार के क्लेशों से घिरता रहता है। अन्यथा इतने सारे अस्पतालों, कल्याण-परिषदों तथा जीवन-बीमा प्रतिष्ठानों की क्या आवश्यकता थी? वास्तविकता तो यह है कि इस संसार में सुख है ही नहीं; लोग दुखों का सामना करने का प्रयत्न कर रहे हैं। मूर्ख लोग दुख को ही सुख मानते हैं, इसलिए यवनराज ने ऐसे लोगों पर अदृश्य रूप में जरा, रोग तथा असामयिक मृत्यु के द्वारा वार करने का निश्चय किया। निस्सन्देह, मृत्यु के पश्चात् जन्म होता है, अतः यवनराज ने ठीक ही सोचा कि वह समस्त कर्मियों को काल-कन्या के माध्यम से मार दे और उन्हें बता दे कि भौतिक प्रगति वास्तव में प्रगति नहीं है। प्रत्येक जीव एक आध्यात्मिक जीव है और फलस्वरूप आध्यात्मिक प्रगति के बिना मनुष्य जीवन चौपट हो जाता है।

प्रज्वारोऽयं मम भ्राता त्वं च मे भगिनी भव ।

चराम्युभाभ्यां लोकेऽस्मिन्नव्यक्तो भीमसैनिकः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

प्रज्वारः—प्रज्वार नामक; अयम्—यह; मम—मेरा; भ्राता—भाई; त्वम्—तुम; च—भी; मे—मेरी; भगिनी—बहिन; भव—बन जाओ; चरामि—मैं विचरण करूँगा; उभाभ्याम्—तुम दोनों के द्वारा; लोके—संसार में; अस्मिन्—इस; अव्यक्तः—अप्रकट; भीम—भयंकर; सैनिकः—सैनिकों सहित।

यवनराज ने कहा : यह मेरा भाई प्रज्वार है। तुम्हें मैं अपनी बहिन के रूप में स्वीकार करता हूँ। मैं तुम दोनों का तथा अपने भयंकर सैनिकों का उपयोग इस संसार के भीतर अदृश्य रूप से करूँगा।

तात्पर्य : नारद मुनि ने कालकन्या को यवनराज के पास इस उद्देश्य से भेजा था कि वह उसकी पत्नी बन जाये, किन्तु यवनराज ने उसे पत्नी के रूप में स्वीकार न करके बहिन के रूप में स्वीकार किया। जो लोग वैदिक नियमों को नहीं जानते वे मनमाना संभोग करते हैं; फलतः कभी-कभी वे अपनी बहिनों तक के साथ संभोग करने में नहीं हिचकते। इस कलियुग में तो ऐसे अनेक उदाहरण

मिलते हैं। यद्यपि यवनराज ने नारद का मान रखने के लिए उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, किन्तु वह लगातार अवैध स्त्री-प्रसंग के विषय में सोचता रहा। इसका कारण यह था कि वह यवनों तथा म्लेच्छों का राजा था।

प्रज्वार: शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसका अर्थ है “भगवान् विष्णु द्वारा भेजा गया ज्वर।” ऐसा ज्वर सदैव १०७ डिग्री पर रहता है, जिस ताप पर मृत्यु हो जाती है। इसीलिए म्लेच्छों तथा यवनों के राजा ने काल-कन्या से प्रार्थना की कि वह उसकी बहिन बन जाये। उसे पत्नी बनने के लिए कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि यवन तथा म्लेच्छ विषयी जीवन में कोई भेदभाव नहीं मानते। इस प्रकार ऊपर से चाहे बहिन हो, माता या पुत्री लगे, फिर भी संभोग कर सकता है। यवनराज का भाई प्रज्वार था और कालकन्या तो साक्षात् अक्षमता थी ही। ये दोनों यवनराज की सेना—गंदगी, अवैध स्त्री-प्रसंग तथा ज्वर के कारण मृत्यु के साथ मिलकर और उससे शक्ति प्राप्त करके भौतिक जीवनशैली को ध्वंस करने में समर्थ थे। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि नारद पर जरा का कोई प्रभाव न था। इसी प्रकार नारद मुनि के सेवक या शुद्ध वैष्णव पर भी जरा आक्रमण नहीं कर सकती।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत “राजा पुरञ्जन की नगरी पर चण्डवेग का धावा और कालकन्या का चरित्र” नामक सत्ताईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।